वर्ष-११ एवं १२

अंक-५, ६ एवं १

सितम्बर, नवम्बर २०१७ एवं जनवरी २०१८

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

Peer Reviewed

ISSN 0973-9777
GISI Impact Factor 3.5628
वर्ष-११ अंक-५ , ६ एवं वर्ष-१२ अंक -१
सितम्बर, नवम्बर २०१७ एवं जनवरी २०१८

एम.पी.ए.एस.वी.ओ.
द्वारा आन्वीक्षिकी सदस्य
सहसंयोजन से प्रकाशित

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

मासद्वयी अन्तर्राष्ट्रीय शोध समग्र पत्रिका

प्रधान सम्पादिका

डॉ. मनीषा शुक्ला,maneeshashukla76@rediffmail.com

पुनर्निरीक्षक संपादक

प्रो. विभा रानी दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, उ.प्र.,भारत

डॉ. नागेन्द्र नारायण मिश्र, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद,उ.प्र.,भारत

प्रो. उमेश चंद्र दुबे, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, उ. प्र.,भारत

सम्पादक

डॉ. महेन्द्र शुक्ल, डॉ. अंशुमाला मिश्रा

सम्पादक मण्डल

डॉ. मंजु वर्मा, डॉ. अमित जोशी, डॉ. अर्चना तिवारी, डॉ. सीमा रानी, डॉ. सुमन दुबे, डॉ. सच्चिदानंद द्विवेदी, डॉ. मनोज कुमार अग्निहोत्री, पाल सिंह, डॉ. पौलमी चटर्जी, डॉ. राम अग्रवाल, डॉ. शीला यादव, डॉ. प्रतीक श्रीवास्तव, जय प्रकाश मल्ल, डॉ. त्रिलोकीनाथ मिश्र, प्रो. अंजली श्रीवास्तव, विजय कुमार प्रभात, डॉ. जे.पी. तिवारी, डॉ. योगेश मिश्रा, डॉ. पूनम सिंह, डॉ. रीता मौर्या, डॉ. सौरभ गुप्ता, डॉ. श्रुति विग, दीप्ति सजवान, डॉ. निशा यादव, डॉ. रमा पद्मजा वेदुला, डॉ. कल्पना बाजपेयी, डॉ. ममता अग्रवाल, डॉ. दीप्ति सिंह, डॉ. आभा सिंह, डॉ. अरुण कान्त गौतम, डॉ. राम कुमार

अन्तर्राष्ट्रीय सलाहकार मण्डल

पी.त्रिराची सोडामा (श्रीलंका), फ्रा च्युतिदेश सैन्सोम्बट (बैंकाक,थाईलैंड), डॉ. सीताराम बहादुर थापा (नेपाल), माजिद करीमजादेह (ईराक), मोहम्मद जारेई (जाहेडान, ईरान), मोहम्मद मोजटाबा केयाहफरजानेह (जाहेडान, ईरान), डॉ. होसैन जेनाबदी (सिस्तान एवं बलूचिस्तान, ईरान), मोहम्मद जावेद केयाह फरजानेह (जाबोल, ईरान)

प्रबन्धक

महेश्वर शुक्ल,maheshwar.shukla@rediffmail.com

पाठकों से

आन्वीक्षिकी,भारतीय शोध पत्रिका प्रत्येक दो माह (जनवरी, मार्च, मई, जुलाई, सितम्बर एवं नवम्बर) पर एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण वाराणसी उ.प्र. भारत द्वारा प्रकाशित की जाती है। एक वर्ष में आन्वीक्षिकी, भारतीय शोध पत्रिका 6 भाग हिन्दी एवं 6 भाग अंग्रेजी एवं 3 अतिरिक्तांकों के भाग में प्रकाशित की जाती है। डॉक खर्च दर के सम्बन्ध में जानकारी हेतु सम्पर्क करें।

वार्षिक पाठक मूल्य दर

संस्थागत एवं व्यक्तिगत : भारतीय 5000+1000/-डाक शुल्क, एक प्रति 1300+100/- डाक शुल्क, वैदेशिक : 6000+डाक खर्च, एक प्रति 1000+डाक शुल्क

विज्ञापन एवं निवेदन

विज्ञापन के संदर्भ में जानकारी प्राप्त करने हेतु प्रधान सम्पादिका के पते पर संपर्क करें। आन्वीक्षिकी एक स्ववित्तपोषित पत्रिका है,अत: किसी भी प्रकार का आर्थिक सहयोग सराहनीय होगा। कृपया अपनी सहयोग राशि चेक अथवा ड्राफ्ट के माध्यम से निम्नलिखित पते पर प्रेषित करें।

सभी पत्राचार निम्नलिखित पते पर ही प्रेषित करें-

बी.32/16 ए. 2/1,गोपालकुंज,नरिया,लंका वाराणसी उ.प्र. भारत,पिन कोड 221005 मोबाइल नं. 09935784387,

टेलीफोन नं. 0542-2310539.,E-mail :

maneeshashukla76@rediffmail.com,www.anvikshikijournal.com

मिलने का समय : 3-5 दिन में(रविवार अवकाश)

पत्रिका संयोजन : महेश्वर शुक्ल,maheshwar.shukla@rediffmail.com

प्रकाशन :एम.पी.ए.एस.वी.ओ.मुद्रण

प्रकाशन तिथि : 19 जनवरी 2018

मनीषा प्रकाशन

(पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008 बी.32/16 ए. 2/1,गोपालकुंज,नरिया, लंका वाराणसी उ.प्र. भारत)

आन्वीक्षिकी

भारतीय शोध पत्रिका

वर्ष-११ एवं वर्ष-१२ अंक-५/६ एवं १

सितम्बर/नवम्बर-२०१७ एवं जनवरी २०१८

शोध प्रपत्र

प्रथमा के अर्थ का निरूपक सूत्र -भारती मेहता 1-5

नारी का शैक्षिक एवं आर्थिक सशक्तिकरण -विजयलक्ष्मी 6-11

नागार्जुन : प्रगतिशील (प्रयोगवादी) चेतना -डॉ0 अंशुमाला मिश्रा 12-13

गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन और वर्तमान राजनीति -डॉ0 सीमा रानी 14-16

महात्मा गाँधी का ग्रामोदय एवं वर्तमान ग्रामों की दशा-दिशा : एक विमर्श -अमिताभ सिंह 17-20

स्वामी विवेकानन्द के विचार और वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता -प्रो0 अंजली श्रीवास्तव 21-23

जॉन डीवी का जीवन दर्शन -व्यासमुनि 24-32

समाज, ज्ञान सामाजिक अध्ययन से सामाजिक विज्ञान तक -पाल सिंह 33-39

स्वामी विवेकानन्द : शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध -सुनील कुमार चतुर्वेदी 40-41

स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन -व्यासमुनि 42-49

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षण विधि का तुलनात्मक अध्ययन -सुनील कुमार चतुर्वेदी 50-53

साहित्य शास्त्र में चम्पू काव्य विधा -भारती मेहता 54-55

प्रिंट ISSN 0973-9777, वेबसाइट ISSN 0973-9777

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,1-5**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 09 जनवरी 2009

प्रथमा के अर्थ का निरूपक सूत्र

भारती मेहता*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *प्रथम के अर्थ का निरूपक सूत्र* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *भारती मेहता* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

'प्रातिपदिकार्थ किसे कहते हैं' इस प्रसङ्ग में कहा जाता है कि-पदं पदं प्रतिपदम्, प्रतिपदे भवं प्रातिपदिकम् प्रातिपदिक-स्यार्थः प्रतिपदिकार्थः। परन्तु बिना प्रातिपदिक संज्ञा हुये कल्पना करके की जाती है। अन्यथा यह उचित नहीं होगी। कारकार्थ एवं विभक्तार्थ बताने के उद्देश्य से लिखे गये इस प्रकरण में दीक्षित जी सर्वप्रथम 'प्रथमा' विभक्ति को बताने के उद्देश्य से, भगवान् पाणिनि का प्रथमा के अर्थ का निरूपक सूत्र, उपस्थित कर रहे हैं- 'प्राति-पदिकार्थश्च लिङ्गञ्च परिमाणं च वचनञ्च प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनानि तान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचन-मात्रम् तस्मिन् प्रथमा स्यात्' इस सूत्र का व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ होता है। यहाँ एक नियम है 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्धाते' अर्थात् जहाँ द्वन्द्वसमास हुआ हो वहाँ समस्त पद के अन्त में सुना गया पद प्रत्येक (पद) से सम्बद्ध होता है। अन्त से तात्पर्य समीप से है। समीप 'आदि तथा अन्त' दोनों प्रकार से होता है। यहाँ मात्र शब्द अन्त में हैं। एतावता 'प्रातिपदिकार्थमात्रे', लिङ्गमात्रे, परिमाणमात्रे तथा वचनमात्रे प्रथमा' सूत्रार्थ होगा।

किसी वस्तु को समझने के लिए दो विधियाँ होती हैं। १- अवयवों का ज्ञान कराकर अवयवी का ज्ञान कराया जाये २- अवयवी का ज्ञान कराकर अवयवों का ज्ञान कराया जाये। इस प्रसङ्ग में भगवान् पाणिनि ने दूसरी विधि का प्रयोग किया है। इसे समझने के लिए उनके सूत्रों का क्रम देखना पड़ेगा।'[१] विशिष्ट में शक्तिनिर्द्धारण से है। अर्थात् 'जातिविशिष्ट व्यक्ति' किंवा 'व्यक्ति विशिष्ट जाति' मानने वाले 'द्विकं प्रातिपादिकार्कः के पक्षधर कहे जायेंगे। 'गामानय' में जातिविशिष्ट व्यक्ति में आनयनक्रिया सम्भव होती है तााि 'न ब्राह्मणं हन्यात्' में व्यक्ति विशिष्ट जाति में हननकिया का निषेध होता है। स्वतन्त्र जाति और स्वतन्त्र व्यक्ति प्रातिपदिकार्थ है, ऐसा निर्णय यहाँ नहीं लेना चाहिये। द्वयोः समूहः द्विकम् । लौकिक तथा शास्त्रीय दृष्टि से लिङ्ग दो प्रकार का होता है। लोक में स्तनकेशवाली को कहने वाला शब्द 'स्त्रीलिङ्ग तथा दाढ़ी मूंछ वाले को कहने वाला शब्द पुंल्लिङ्ग कहलाता है पर शास्त्र में स्त्रीवाचक 'दारा' शब्द पुंल्लिङ्ग एवम् अचेतन 'खट्वा' शब्द स्त्रीलिङ्ग कहा जाता है। इससे सिद्ध

* शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार) भारत। (पुनः प्रकाशन)

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

है कि शब्द शास्त्र में लिङ्ग का निश्चय अर्थगत कारणों से नहीं होता है। फलतः लिङ्ग को प्रातिपदिक का अर्थ मानना ही होगा। इस प्रकार का मन्तव्य रखने वाले 'त्रिकं प्रातिपदिकार्थः' मानते हैं। त्रयाणां समूहः त्रिकम्। अर्थात् जाति, व्यक्ति और लिङ्ग तीनों ही प्रातिपदिक के अर्थ हैं। इसीलिए लिङ्गानुशासन में प्रातिपदिक में ही आचार्य लिङ्गत्व का निर्द्धारण करते हैं। एक, द्वि तथा बहु आदि शब्दों में एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्वरूप संख्या की प्रतीति यह सिद्धि करती है कि संख्या भी प्रातिपदिक का ही अर्थ है। ऐसा मानने वाले 'चतुर्ण्णाम् समूहः चतुष्कम् प्रातिपदिकार्थः' कहते हैं। तात्पर्यतः इनके सिद्धान्त में जाति, व्यक्ति, लिङ्ग तथा संख्या चारो ही प्रातिपदिक के अर्थ हैं।

'दधि' और 'मधु' आदि में जहाँ विभक्ति नहीं दिखाई दे रही है, वहाँ कारकत्व का निर्द्धारण कठिन है, इसलिए कारक को भी प्रातिपदिकार्थ मानना उचित है'' ऐसा कहने वाले 'पञ्चानां समाहारः पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः' स्वीकार करते हैं। पाँच से तात्पर्य जाति, व्यक्ति लिंङ्ग, संख्या तथा कारक से है। इन पाँचो पक्षों की एकत्र सूचना भाष्यकार के निम्न वचन में है- 'स्वार्थमभिधाय शब्दों निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम्। समवेतस्य च लिङ्गं वचनं विभक्तिश्च[२]। यहाँ 'प्रातिपदिकार्थ ५ है' ऐसा निर्णय करने में एक कठिनाई है। लगता है कि प्रकृतस्थल में सूत्र में आचार्य पाणिनि ने पञ्चकम् पक्ष में स्वीकृति नहीं दी है अन्यथा प्रातिपदिकार्थ से ही लिङ्गग्रहण गतार्थ हो जाता, सूत्र में पुनः उसे लिखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। यही स्थिति संख्या के साथ भी है। ऐसी शङ्का के उपस्थित होने के कारण प्रातिपदिकार्थ का निर्णय करने की आवश्यकता पड़ती है।

काशिकाकार ने 'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरित'[३] इस भाष्य को तथा प्रकृतसूत्र में 'प्रातिपदिकग्रहणं किमर्थं? उच्चैः नीचैरित्यत्रापि यथा स्यात् इस भाष्य को देखकर प्रातिपदिक का अर्थ सत्ता तथा उदाहरण उच्चैः नीचै दिया है। इसी भाव को जिनेन्द्रबुद्धि ने न्यास में- 'यदि जातिस्तदा देवदत्तादौ न स्यात्। अथो सतो भावः सत्ता, तदाकाश-कुसुमादौ न स्यादित्याहप्रातिपदिकार्थः सत्तेति। यत्रार्थान्तरनिरपेक्षा शब्दस्य प्रवृत्तिः स सर्वः प्रातिपदिकार्थः। सत्ताग्रहणं तूपलक्षणार्थम्[४] लिखकर दिखाया है। इसी प्रकार हरदत्त ने भी अत्यन्त विद्वतापूर्ण ढंग से विषय का प्रतिपादन करने के पहले महाभाष्य को दृष्टि में रखकर अपना मत व्यक्त किया है- 'योऽर्थः सन्नेव केवलं न जात्यादिरूपो न लिङ्गसंख्यायोगी कारकयोगी, स इह प्रातिपदिकार्यत्वेन विवक्षितः, यथा-अव्ययार्थ इत्यर्थः'[५]। वस्तुतः काशिकाकार का भाव यह था कि नामशब्द सदा कारक सम्बन्ध सम्बद्ध रहेंगे। पर उसकी एक ऐसी भी स्थिति होती है जब वह उत्पन्न मात्र रहता है। उस अवस्था में कौन सी विभक्ति आयेगी।? क्योंकि नियम है कि 'निर्विभक्तिकं पदं न प्रयोक्तव्यम्'- बिना विभक्ति के कोई शब्द न कहा जाये। अतः प्रातिपदिकार्थ सत्ता होगा। उनके व्याख्याता न्यासकार ने अपनी दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर इसे परखा। केवल 'सत्ता' उन्हें भ्रामक ज्ञात हुआ, इसलिए इसे उपलक्षण मानकर जाति अर्थ का खण्डन करते हुए 'अर्थान्तरनिरपेक्ष शब्दप्रवृत्ति' को प्रातिपदिकार्थ स्वीकार किया। पर अर्थान्तर निरपेक्ष में भी तो स्वार्थ का स्पष्टीकरण करना चाहिए था, जो नहीं हुआ हरदत्त को न्यासकार का मत अभीष्ट नहीं था।[६]

लिखने वाले महाशैव हरदत्त ने 'योऽर्थः सन्नेव....' पद से काशिकाकार के उपर्युक्त भावस्पष्टीकरण के साथ शब्द की उस सविशेषावस्था की ओर भी ध्यान दिलाया है, जिसमें अर्थ लिङ्गसंख्याकारकयोगी जाति आदि-व्यक्ति-रूप होता है। इस मत की त्रुटि यह है कि उसने प्रातिपदिकार्थ का उदाहरण केवल 'उच्चैः नीचैः' दिया है, जो अव्यय है। महाभाष्यकार के 'उच्चैः नीचैरित्यत्रापि यथा स्यात्' इस वाक्य में 'अपि' शब्द की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। अपि शब्द से गृहीत 'कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् ' पर यदि दृष्टि गयी होती तो भट्टोजिदीक्षित को मनोरमा में 'उच्चैनीचैरित्यादिशब्दानां सन्नित्याकारकप्रतीतिजनकत्वस्य सर्वतन्त्रविरुद्धत्वात्। अस्त्यादिसमानाधिकरण्यस्यापि असत्त्वार्थकेषु दुर्लभत्वात्। 'न लिङ्गसंख्या कारकयोगी' ति त्वदुक्तिविरोधाच्च। पदान्तरीपस्थापितस्य अस्तिसामाना-धिकरण्यमस्तीति चेत्, न, तस्य अव्यावर्तकत्वात्। 'न पुनरि' त्यादिवाक्यशेषाविरोधाच्च। कृष्णः श्रीरित्यादावप्याप्तेश्च'[७] नहीं लिखना पड़ता।

अस्तु, भट्टोजिदीक्षित ने अनावश्यक विवाद में अपने को न डालकर तथा सम्पूर्णतः भाव ग्रहण के लिए

प्रातिपदिकार्थ का लक्षण किया है- 'नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः'। अर्थात् जिस प्रातिपदिक के उच्चारित होने पर जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति हो वही प्रातिपदिकार्थ है। इससे एक लाभ यह भी होता है कि शक्य, लक्ष्य तथा गौण सभी अर्थ प्रातिपदिकार्थ बन सकते हैं। 'यह माणवक सिंह है' इस भाव को कहने को कहने के लिए 'सिंहो माणवकः' में सिंह शब्द का पहले शक्यार्थ होगा पश्चात् लक्ष्यार्थ शूर की उपस्थिति होकर शाब्द बोध हो जाता है।

परन्तु अर्थ में गोल मटोल करना ठीक नहीं है। इसीलिए 'नियतोपस्थितिक कौन है' इसको स्पष्ट करने के लिए नागेश भट्ट ने 'प्रवृत्तिनिमित्त तथा तदाश्रय द्रव्य' दोनों प्रातिपदिकार्थ माना है। यही नियतोपस्थितिक भी है। अपर्याप्त शब्दों में काशिकाकार का भी यही भाव था। सत्ता का अर्थ प्रवृत्तिनिमित्त-जाति-स्वार्थ है। स्वार्थ अपने आश्रय द्रव्य-व्यक्ति के अतिरिक्त रह नहीं सकता है। अतः इसे उन्होंने नहीं कहा। द्र०-'अत्र वदन्ति-अत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थ शब्देन प्रवृत्तिनिमित्तं, तदाश्रयश्चेत्येतावन्मात्रं गृह्यते। अत एव लिङ्गग्रहणं चरितार्थम्। अन्यथा त्रिकादिपक्षे तस्यापि प्रातिपदिकार्थतया तद्वैयथर्य स्पष्टमेव। इदमेवाभिप्रेत्य वृत्तौ 'प्रातिपदिकार्थः सत्ते' त्युक्तम्। तत्र सत्ता ग्रहणं प्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षणम। आश्रयस्तु तदाक्षिप्तप्वान्न पृथग्गणितः'[८] सूत्र में आये सभी पदों से मात्र शब्द के योग होने से 'प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा हो' का तात्पर्य प्रातिपदिकार्थ के सभी पक्षों में प्रथमा होने से है। 'कृष्णः' पद की प्रथमा कृष्णत्व जाति, कृष्ण व्यक्ति, कृष्ण का लिङ्ग, कृष्ण की संख्या तथा अध्याहृत 'अस्ति' क्रिया के प्रति कृष्ण का कर्तृकारकत्व सभी को बताती है। यदि यह सन्देह हो कि कर्त्ता में सूत्रकार ने तृतीया का होना बताया है, कर्त्ता में प्रथमा विभक्ति होती ही नहीं है तो इसका उत्तर है कि 'अस्ति' क्रिया के 'ति' से कर्त्ता उक्त है और सामानाधिकरण्य के कारण अभेदान्वय होने पर 'कृष्णः' के प्रथमा में कर्तृत्वद्योतकता आ जायेगी। अन्ततोगत्वा 'अस्ति' क्रिया तो सर्वत्र रहती है।[९]

यहाँ पुनः सन्देह होता है कि जब कृष्ण का पुल्लिङ्गत्व कृष्ण प्रातिपदिक ही बता देगा तो 'लिङ्गमात्रे'- 'लिङ्गमात्र में प्रथमा हो' कहने का क्या तात्पर्य है? इसका उत्तर है कि सभी शब्दों का कोई न कोई लिङ्ग होता है, वह तो प्रातिपदिकार्थ से गतार्थ हो जायेगा पर यदि कोई ऐसा शब्द हो जिसका लिङ्ग अनिश्चित रहे तो प्रातिपदिकार्थ में किस लिङ्ग का ग्रहण होगा, यह निश्चित करना कठिन हो जायेगा। इसलिए 'लिङ्गमात्रे' का अर्थ 'लिङ्गमात्राधिक्ये' अर्थात् लिङ्गमात्र की अधिकता को भी प्रथमा बताती है, यह कहने के लिए सूत्र में लिङ्गग्रहण आवश्यक है तथा 'लिङ्गमात्रे' का अर्थ 'लिङ्गमात्र की अधिकता में करना कठिन अपेक्षित है। 'तट' शब्द तटः, तटी, तटम् रूप में त्रिलिङ्ग है। 'तटी' में अकारान्त तट शब्द के बाद आने वाले प्रत्यय से द्योत्य स्त्रीत्व ही 'सु' से भी द्योत्य होता है। इसीलिए 'अलिङ्ग' अर्थात् जिन शब्दों में कोई लिङ्ग नहीं है- जैसे- अव्यय- उच्चैः नीचैः तथा 'नियतलिङ्ग' अर्थात् जिन शब्दों में लिङ्ग व्यवस्थित है जैसे कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम् आदि प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण बनते हैं। यहाँ लिङ्गत्व का ज्ञान प्रथमा प्रातिपदिकार्थ के नाते हर करा देती है। पर जहाँ 'अनियत-लिङ्गता' है वहाँ प्रथमा केवल लिङ्गमात्र को ही बताती है।

'परिमाण मात्रे प्रथमा' का तात्पर्य 'परिमाणाधिक्ये प्रथमा' से है। शब्द से प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त जब परिमाण अर्थ की भी प्रतीति हो रही हो तो उसमें भी प्रथमा विभक्ति हो यह 'परिमाणमात्राधिक्ये' का भाव है। यहां प्रथमा केवल परिमाण को ही द्योतित करती है। इसका उदाहरण 'द्रोणो व्रीहिः' है। द्रोणः तथा व्रीहिः दोनों में प्रथमा विभक्ति है। द्रोणः का शाब्दिक अर्थ 'द्रोन' है। हिमालय की उतत्यका में आज भी यह शब्द प्रचलित है। १६ सेई का एक मानी तथा १६ मानी का एक द्रोन, यह मान है। १ सेई लगभग १ किलो की होती है। इस प्रकार २५६ किलोग्राम का एक द्रोन होता है। सेई लोहे का एक गोलाकार बर्तन है, जिसमें धान रखकर नापा जाता है। व्रीहि शब्द का अर्थ धान है। 'द्रोणो व्रीहिः' का अर्थ होता है एक द्रोण धान-द्रोण परिमित धान। अर्थात् धान एक द्रोन है।

जैसे 'किलोग्राम' शब्द का अर्थ नापने का एक बटखरा है उसी प्रकार 'द्रोणः' शब्द का अर्थ है नापने का एक बटखरा। द्रोणः का प्रातिपदिकार्थ उसी बटखरा रूप अर्थ को बताता है। व्रीहिः शब्द का प्रातिपदिकार्थ धान

है। जाति में प्रयुक्त होने के कारण इसका अर्थ होता है 'धानराशि।' जब द्रोणः तथा व्रीहिः को निरपेक्ष भाव से पृथक्-पृथक् बोलते हैं तब अर्थ होता है एक द्रोण (नापने वाला बटखरा) तथा धान की एक राशि। पर साथ बोलने पर अर्थ होता है 'धानराशि जिसका नाप एक द्रोण है'। यहाँ द्रोणः पद प्रातिपदिकार्थ बटखरा रूप अर्थ-को छोड़कर परिमाण-नाप-रूपी अर्थ को बताता है अर्थात् परिमाणरूप अर्थ का आधिक्य द्योतित करता है। इस परिमाणाधिक्य को द्योतित करने के लिए भी विभक्ति की आवश्यकता है, जिसे यह प्रथमा द्योतित करती है। नहीं तो, 'द्रोणो व्रीहिः' में अन्वय की सङ्गति नहीं होगी। इसे ही कहते हैं- 'परिमाणमात्राधिक्ये प्रथमा'। सूत्र में परिमाण शब्द का सन्निवेश न रहने पर वह अर्थ नहीं निकलता। प्राचीन काल में 'द्रोण' से निम्न प्रकार का नाप समझ जाता था-[१०]

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कुडव तथा खारी शब्द भोजपुरी में अपभ्रंश रूप में 'कूड़ा' तथा 'बखारी' के नाम से जीवित हैं। दो प्रसृत धान जिसमें रह सके वह कूंड़ा तथा १६ द्रोण धान जिसमें रह सके वह बखारी कहा जाता है।

'द्रोणो व्रीहिः' के शाब्द बोध को समझने के लिए इन पङक्तियों को लिखकर विचार किया गया है। इसका तात्पर्य है कि इसमें द्रोणः विशेषण पद तथा व्रीहिः विशेष्य पद है। द्रोणः का अर्थ है द्रोण रूप परिमाण विशेषण एवम् उससे परिच्छिन्न-नापी गयी धानराशि-विशेष्य। एक नियम है- 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रू तस्तयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम्' अर्थात् प्रकृति और प्रत्यय दोनों साथ मिलकर अर्थ को बताते हैं, उसमें प्रत्यय का अर्थ प्रधान-विशेष्य होता है। इस दृष्टि से कहना होगा कि 'द्रोणः' में प्रथमा प्रत्यय 'सु' का अर्थ परिमाण विशेष्य है तथा द्रोणत्वरूप प्रकृत्यर्थ उस प्रत्ययार्थ परिमाण के प्रति अभेद सम्बन्ध से विशेषण है। 'ब्रीहिः' के साथ मिलने पर द्रोणो व्रीहिः में द्रोणः का यह द्रोणत्व विशिष्ट द्रोणरूप परिमाण अर्थ व्रीहिः के प्रति विशेषण बन जाता है और व्रीहिः पद विशेष्य बन जाता है पर यहां सम्बन्ध 'परिच्छेद्य-परिच्छेदक' होता है। अर्थात् व्रीहि परिच्छेद्य-नापी जाने वाली है और द्रोण परिच्छेदक-नापने वाला है। सारांशतः द्रोणो व्रीहिः में व्रीहिः विशेष्य तथा द्रोणः का प्रथमार्थ विशेषण एवं सम्बन्ध परिच्छेद्य-परिच्छेदक है तथा द्रोणः में सुप्रत्यय का अर्थ परिमाण विशेष्य तथा द्रोण का प्रकृत्यर्थ द्रोणत्व विशेषण है एवम् सम्बन्ध अभेद है।

इस प्रसङ्ग में यह भी प्रश्न उठता है कि वीरः पुरुष में वीरः तथा पुरुषः दोनों पदों में प्रथमा प्रातिपदिकार्थ में है तथा पुरुषः विशेष्य एवं वीरः विशेषण है। साथ ही विशेष्य विशेषण भाव रूप अतिरिक्त सम्बन्ध की प्रतीति होती है। इसलिए सम्बन्ध में भी प्रथमा की जानी चाहिये पर सूत्र में उसका निर्देश नहीं किया गया है। इसका उत्तर है कि सम्बन्ध की प्रतीति वाक्यार्थ का विषय है। स्वार्थातिरिक्त वाक्यार्थ का विषय होने के कारण यह बहिरङ्ग तथा स्वार्थ-विषयक कार्य अन्तरंग होता है। पहले वीरः तथा पुरुषः में स्वार्थ में प्रथमा होती है, बाद में विशेष्यविशेषणभावरूप सम्बन्ध की प्रतीति आकांक्षा से होती है। द्र०-'शाब्दबोधे चैकपदार्थे अपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते'[११]

वचन का अर्थ है संख्या। वचन मात्र में प्रथमा होती है का तात्पर्य, प्रथमा 'वचन' को घोतित करती है, से है। यहाँ प्रश्न होता है कि वचन तो प्रातिपादिक का अर्थ है, उसमें तो प्रथमा होती ही है, पुनः उसी अर्थ को कहने के लिए वचन विधान क्यों किया गया है? उत्तर है कि कृष्णः में प्रथमा सु कृष्ण के एकत्व को प्रातिपदिकार्थ में द्योतित करती है पर जब एक शब्द से प्रथमा सु आयेगी तो वह एकत्व को कैसे द्योतित करती है क्योंकि वह एकत्व रूप अर्थ तो प्रकृति से ही-एक शब्द से ही कह दी गयी है। एक नियम है- उक्तार्थानाम-प्रयोगः अर्थात् जो अर्थ कह दिये गये हैं उनका प्रयोग नहीं होता है। इसलिए कथित को पुनः द्योतित करने का प्रश्न ही नहीं आता। फिर तो एक शब्द से प्रथमा विभक्ति आयेगी ही नहीं। ऐसी स्थिति में एकः तथा इसी प्रकार द्वौ और बहवः में प्रथमा को लाने के लिए इस सूत्र में वचन शब्द का पाठ किया गया है। यहाँ एकः द्वौ, बहवः में सु, औ, जस् का अर्थ केवल संख्या है तथा पूर्व टिप्पणी में दिये गये नियम के अनुसार एकत्व-विशिष्ट संख्या, द्वित्वविशिष्ट संख्या तथा बहुत्वविशिष्ट संख्या अर्थ होता है।

सम्यक् बोधनम् सम्बोधनम् – अभिमुखीकरणम्। किसी को अपनी ओर आकृष्ट करना सम्बोधन कहलाता है। यहाँ प्रातिपदिकार्थ की अपेक्षा सम्बोधन मात्र की अधिकता की प्रतीति कराने के लिए प्रथमा विभक्ति आती है। फलतः सम्बोधन में वर्तमान प्रातिपदिक से प्रथमा विभक्ति हो, ऐसा सूत्रार्थ होता है। राम। इस सम्बोधन पद में प्रथमा का एकवचन सु केवल राम को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए है। परन्तु जैसा कि बताया जा चुका है प्रथमा भी क्रिया योग में प्रवृत्त होती है और यहाँ कोई क्रिया है नहीं, इसलिए असि क्रिया का अध्याहार किया जायेगा। असि क्रिया का कर्ता राम ही है पर उसका प्रयोग यहाँ व्यापाराश्रय के रूप में हो नहीं रहा है। इसलिए कर्ता राम की कहने के लिए त्वम् पद का भी अध्याहार करना होगा। हे राम त्वम् असि इस वाक्य में अभिमुखीकरण का कोई प्रयोजन नहीं दिखायी दे रहा है। किसी की बुलाकर त्वमसि कहना असङ्गत है। इसका कोई विधेय होना चहिए। इसलिए सुन्दरः पद का भी अध्याहार करना पड़ेगा। अब वाक्य बनेगा हे राम। त्वमसि सुन्दरः। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सम्बोधन का फल क्रिया में विनियोग है। फलतः हे राम। में राम का प्रकृत्यर्थ सम्बोधन का विशेषण और सम्बोधन उस प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य होगा तथा पूरा सम्बोधनान्त पद क्रिया के प्रति विशेषण होगा।[१२]

संदर्भ

[१]प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक शास्त्र-अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१.२.४५); कृत्तद्धितसमासाश्च (१.२.४६); धातु-संज्ञाविधायक सूत्र- 'भूवादयो घातवः भूवादयो धातवः (१.३.१), अङ्गसंज्ञाविधायक सूत्र- यस्मात्प्रत्यय विधिस्तदादि-प्रत्ययेऽङ्गम् (१.४.१३),पदसंज्ञाविधायक सूत्र- सुप्तिङन्तं पदम् (१.४.१४), पुरुष, वचन, विभक्तिनिर्णायक सूत्र- तिङस्त्रीणित्रीणि, प्रथममध्यमोत्तमाः (१.४.१०१), तान्येकवचन द्विवचन बहुवचनान्येकशः (१.४.१०२) सुपः (१.४.१०३) विभक्तिश्च (१.४.१०४), विभक्तिनिश्चायक सूत्र- कर्मणि द्वितीया (२.३.२), कर्तृकरणयोस्तृतीया (२.३.१८), कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् (१.४.३२), ध्रुवमपायेऽपादानम् (१.४.२४), आधारोऽधिकरणाम् (१.४.४५), प्रातिपदिकार्थलिङ्ग-परिमाणवचन मात्रे प्रथमा (२.३.४६), प्रत्ययसंज्ञा तथा उसकी स्थिति निर्णायक सूत्र- प्रत्ययः (३.१.१), परश्च (३.१.२), स्वादिविभक्तिप्रकृतिनिर्द्धारकसूत्रङ्या-प्रातिपदिकात् (४.१.१), स्वादिसूचक सूत्र- स्वौजसमौट्....(४.१.२), स्त्रीत्वद्योतक सूत्र-स्त्रियाम (४.१.३), अजाद्यतष्टाप (४.१.४)

[२](म० भा० ५.३.७४)

[३](म० भा० ५.२.९४)

[४](न्यास, २.३.४६)

[५](पं० मं० २.३.४६)

[६]व्यक्तप्रधानपुरुषात्मकमस्वतन्त्र-मेतत्समस्तमधितिष्ठति यः स्वतन्त्रः। तस्मै शिवाय परमाय दशाव्ययाय सम्वाय सादरमयं विहितः प्रमाणः।।

[७](मनो०-प्रकृतस्थल)

[८](बृ० श० शे० ७९०-९१)

[९]'द्विकं प्रातिपदिकार्थः' पक्ष में प्रथमा जातिविशिष्ट द्रव्य को बताती है। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्' परिभाषा के अनुसार लिङ्ग का बोध होता ही है तथा क्रिया की उपस्थिति में संख्यायुक्त कारकत्व घोषित हो जाता है।

[१०]जालसूर्य्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरिति स्मृतम् तेऽष्टौ लिखा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते।। गौरस्तु ते त्रयष्षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः। कृष्णलः पञ्च ते माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश।। पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम् पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम् ।। चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकः। आढकैस्तैश्चतुर्भिस्तु 'द्रोण' इत्यमिधीयते।। कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणस्तु षोडश। (या० स्मृ० आदि)

[११](व्यु० वा० पृष्ठ १)।

[१२]द्रष्टव्य- सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः। प्राप्ताभिमुख्यो ह्यर्थात्मा क्रियासु विनिर्युज्यते।। सम्बोधनं न वाक्यार्थ इति वृद्धेभ्य आगमः।। (वा० प० ३.७.१६.२.३) सम्बोधनं पदं यच्च तत्क्रियायां विशेषणम् । (वा० प० २-४)।

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,6-11**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 26 अक्टूबर 2017

नारी का शैक्षिक एवं आर्थिक सशक्तिकरण

विजयलक्ष्मी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *नारी का शैक्षिक एवं आर्थिक सशक्तिकरण* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *विजयलक्ष्मी* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

सशक्तिकरण का अर्थ है किसी कार्य करने या रोकने की क्षमता से है, महिला सशक्तिकरण का आशय नारी को अधिकार, सम्मान एवं योग्यता में संवर्द्धन की ओर अग्रसर करना है। महिलाओं को घर और बाहर दोनों में सुरक्षित करना है, जिससे उन्हें जागरूक कर शक्तिशाली बनाया जा सके। महिला सशक्तिकरण की राष्ट्रीय नीति का उद्देश्य महिलाओं की प्रगति, विकास एवं आत्मशक्ति को सुनिश्चित करना है।

महिला सशक्तिकरण की प्रक्रिया

स्त्रियों का सशक्तिकरण उन्हें क्षितिज दिखाने का प्रयास है, जिसमें वे नई क्षमताओं को प्राप्त कर स्वयं को नये तरीके से देखेगी, घरेलू शक्ति सम्बन्धों का बेहतर समायोजन करेगी और घर एवं पर्यावरण में स्वायत्तता की अनुभूति करेगी। लैंगिक असमानता, दहेज, सामाजिक मान्यता एवं समुचित शिक्षा, स्वास्थ्य आदि कुछ पहलुओं की दिशा में प्रयास करके ही महिला सशक्तिकरण की गतिविधियों के द्वारा नारी समाज के नव-जागरण और कल्याण की ठोस शुरूआत की जानी हैं।

महिलाओं का सशक्तिकरण एक लगातार चलने वाली गतिशील प्रक्रिया है, इसका मूल उद्देश्य यह है कि हाशिये के लोगों को मुख्यधारा में लाया जा सके और सत्ता-संरचना में भागीदार बनाया जा सके।

महिला शिक्षा की भूमिका

शिक्षा सामाजिक सशक्तिकरण के लिए पहला और मूलभूत साधन है। शिक्षा ही वह उपकरण है जिससे महिला समाज में अपनी सशक्त, समान व उपयोगी भूमिका दर्ज करा सकती है। शिक्षित महिला न केवल स्वयं लाभान्वित होती है,

* शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

बल्कि उससे भावी पीढ़ी भी लाभान्वित होती है।

जब पुरूष शिक्षित होता है तो एक व्यक्ति शिक्षित होता है और जब स्त्री शिक्षित होती है तो एक पूरा परिवार शिक्षित होता है।

महिला शिक्षा की उन्नति हेतु सुझाव

१. महिला शिक्षा के लिए स्कूलों की घर से भौगोलिक दूरी को कम किया जाए। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक गाँव-टोलों में नवीन स्कूल खोले जायें, जिससे लड़कियों को अपने निवास स्थान के निकट ही शिक्षा प्राप्त हो सके।
२. पिछड़े तथा कमजोर वर्गों में बालिका शिक्षा के प्रति उत्साह जगाने के लिए आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए ठोस पहल करनी चाहिए।
३. विद्यालयों में योग्य शिक्षकों की नियुक्ति कर शिक्षण कार्य को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। शिक्षकों से शिक्षण कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्य न लिया जाए और उन्हें निरन्तर प्रशिक्षित किया जाना भी आवश्यक है।
४. दूरस्थ शिक्षा में तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी माध्यमों का समुचित रूप से व्यापक प्रयोग करके महिलाओं को घर बैठे शिक्षित किया जा सकता है।
५. महिला शिक्षा के प्रसार के लिए गाँव-गाँव में महिला समितियों का गठन करके उन्हें बालिकाओं की शिक्षा सुनिश्चित करने का दायित्व सौंपा जाए एवं साक्षरता के अभियान के द्वारा महिला शिक्षा को बढ़ावा मिल सकता है।

आर्थिक विकास में महिलाओं की भूमिका

२१वीं शताब्दी में प्रवेश करती हुई लाखों महिलायें राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरत हैं। महिलाओं ने बड़ी तादाद में घरेलू दायित्वों के अतिरिक्त कारखानों, बागानों, खदानों, सरकारी कार्यालयों, छोटे एवं बड़े पैमाने के उद्योगों विनिर्माण एवं असंगठित क्षेत्र की उत्पादनशील गतिविधियों में अपनी पहचान बनाना प्रारम्भ कर दिया है। विकास कार्यों में महिलाओं की सहभागिता के बिना वांछित लक्ष्य प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। महिलाओं को विकास कर मुख्यधारा से जोड़े बिना किसी समाज, राज्य एवं देश के विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। भारत एक कृषि प्रधान देश है, जनसंख्या के दो तिहाई लोगों को जीविका प्रदान करने वाली कृषि देश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है। कृषि का ८० प्रतिशत कार्य महिलायें ही करती हैं जैसे- फसल की कटाई, धान अलग करना, अनाज की सार सम्भाल करने के तमाम कार्य स्त्रियाँ करती हैं। फसलों एवं पशुओं की बीमारियों की रोकथाम, पशुधन के चारे-पानी की व्यवस्था, खेत पर खाना पहुँचाने की जिम्मेदारी स्त्रियों के जिम्मे रहती है।

गृह आधारित लघु एवं कुटीर उद्योग में अधिकांश कार्य महिलाओं द्वारा ही सम्पन्न होता है, जैसे- रंगाई, छपाई, दरी आदि लघु उद्योगों में तथा बीड़ी, पापड़, अचार, ऊनी कपड़े आदि गृह उद्योगों में महिलायें ही अधिक कार्य करती हैं।

महिलाओं के प्रत्यक्ष योगदान एवं सक्रिय भागीदारी के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार के फलों, सब्जियों, अनाज के मामले में उत्पादक देश बन गया है। महिलायें भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ हैं। जितना तीव्र गति से महिलाओं का विकास होगा उतनी ही तीव्र गति से देश प्रगति, खुशहाली और समृद्धि के पथ पर आगे बढ़ेगा।

ग्रामीण विकास में महिलाओं की भूमिका

गाँधी जी ने कहा कि, ''मेरा विश्वास है और मैं हर बार यही कहूँगा कि भारत चंद शहरों में नहीं बल्कि गाँवों में बसता है।''

ग्राम स्वराज उनका स्वप्न था। देश की ग्रामीण जनसंख्या में लगभग आधा भाग महिलाओं का है, अतः ग्रामीण

विकास में महिलाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती है। समाज में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती हैं। ग्रामीण महिलाओं को विकास की मुख्यधारा से जोड़े बिना किसी समाज, राज्य एवं देश के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती।

ग्रामीण महिलाओं के जीवन स्तर में सुधार धीमी गति से हुआ है, जिसका मुख्य कारण ग्रामीण विकास कार्यक्रमों का सीमित प्रभाव रहा है। इन कार्यक्रमों का लाभ दूर-दराज के इलाकों तक नहीं पहुँच पाया है। भारत में सर्वप्रथम सन् १९५४ में सरकार ने ग्रामीण विकास कार्यक्रम की शुरूआत की, महिलाओं की भागीदारी का प्रारम्भ सन् १९७४ में हुआ।

ग्रामीण विकास के अन्तर्गत महिला रोजगार के प्रसार से महिलाओं की समाज में सामाजिक व आर्थिक सह-भागिता बढ़ी है। भारत में पिछले ३ दशकों से महिलाओं की कार्य सहभागिता का प्रतिशत बढ़ा है। सन् १९९५ में मानव विकास रिपोर्ट में बताया गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की कार्य सहभागिता की दर अधिक है। भारतीय श्रम में महिलाओं का योगदान एक तिहाई है, जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में ९० प्रतिशत व शहरी क्षेत्रों में १० प्रतिशत महिलायें असंगठित क्षेत्र में कार्यरत हैं।

सरकार द्वारा चलाये गये विशेष कार्यक्रम भारत सरकार ने ग्रामीण विकास में महिला रोजगार की भागीदारी बढ़ाने के लिए समय-समय पर नीतियों का निर्माण किया है। भारत में ग्रामीण विकास, रोजगार-संवर्द्धन व विभिन्न क्षेत्रों में समस्या का हल करने के लिए कुछ विशेष कार्यक्रम निम्न प्रकार है -

१. स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना।
२. महिला स्वयं सिद्धा योजना।
३. प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना।
४. सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना।
५. महिला डेयरी परियोजना।
६. राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारण्टी कार्यक्रम।
७. स्वर्णिम योजना।
८. खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग।

इस प्रकार भारत सरकार द्वारा ग्रामीण विकास में महिला रोजगार को प्रोत्साहन देने हेतु कई कार्यक्रमों का आयोजन किया जा रहा है, जिससे कि महिलाओं की रोजगार की स्थिति सुदृढ़ हो सके। देश के ग्रामीण विकास में महिलाओं की भूमिका को सर्वोपरि समझते हुए केन्द्र एवं राज्य सरकारों द्वारा महिलाओं के लिए सामान्य कार्यक्रमों के साथ-साथ विशेष कार्यक्रम का संचालन भी किया जाना चाहिए, जिससे महिलाओं की ग्रामीण विकास में (भूमिका) भागीदारी मजबूती प्रदान करेगी।

महिलाओं पर वैश्वीकरण का प्रभाव

वैश्वीकरण ने महिलाओं की स्थिति को भी प्रभावित किया है। जीवन के हर क्षेत्र में महिलायें अपनी योग्यता, क्षमता के बल पर झण्डे गाड़े जा रही है। देश के विकास में उनकी भागीदारी ने उन्हें अबला, कमजोर से सबला और समर्थ सिद्ध कर दिया है। आज की रोल माडल इन्दिरा नूयी, ओपरा विनप्रे, किरण देसाई, नैसी पिलोसी, सिगोलेने रॉयल, हिलेरी क्विलंटन जैसी महिलायें जो सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन की ख्याति प्राप्त ऊँगलियों पर गिनी जाने वाली महिलाओं को छोड़ दिया जाये तो समाज की अधिसंख्यक महिलाओं की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है।

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में घोषित किया गया है कि इसका लक्ष्य न्याय प्राप्ति व समस्त नागरिकों को स्तर और अवसर की समानता प्रदान करना है। ७३वें, ७४वें संशोधन दूसरा देश भर की पंचायतों व जिला परिषदों में ३३

प्रतिशत स्थान आरक्षित करने का प्रावधान किया गया। २६/१०/२००६ को घरेलू हिंसा, महिला आरक्षण अधिनियम पारित किया गया। सैद्धान्तिक रूप से महिलाओं को कानून के सभी अधिकार प्राप्त है, जो पुरूषों को प्राप्त है, परन्तु व्यवहार में अनेक विसंगतियाँ हैं, जिनकी भुक्तभोगी हममें से अधिकांश महिलायें हैं।

शबाना आज़मी के शब्दों में (८ मार्च महिला दिवस के अवसर पर) सुरक्षित मातृत्व, मातृत्व समाज के विकास का सूचक है और भारत माता का जीवन दाँव पर है। गर्भवती महिलाओं में ५४ प्रतिशत एनीमिक है। एक लाख जीवित जन्म दर पर ३०१ प्रतिशत मातृ मृत्यु दर। केवल ४३ प्रतिशत जन्म प्रशिक्षित स्टाफ की देखरेख में होते हैं। आज के दौर में महिलाओं के समक्ष बड़ी गम्भीर चुनौती है। उन्हें गृहिणी के साथ-साथ अपने को प्रोफेशनल भी सिद्ध करना है।

दोनों मोर्चों पर उससे असीमित अपेक्षायें हैं और अनेकों सीमायें भी। विशेषकर भारतीय समाज को परम्परावाद, पुरातनता और आधुनिकता में सामंजस्य स्थापित कर रहा है। परिवार एवं समाज में महिला की भूमिका को लेकर यद्यपि पुरूष मनोवृत्ति में कुछ परिवर्तन आया है।

वैश्वीकरण ने भारत की ५० प्रतिशत जनता के गृह कार्यों के प्रति दृष्टिकोण को बदला है। भारत में महिलाओं की स्थिति मिली जुली है, बहुत कम महिलाओं को अपनी स्थिति पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त है। अधिकतर महिलायें काफी हद तक अपने पिता, पति अथवा भाईयों, बेटों पर आश्रित हैं।

महिला विकास के लिए समाज एवं पुरूषों के दृष्टिकोण के साथ-साथ स्वयं महिलाओं के भी अपना दृष्टिकोण परिवर्तित करना होगा। उनका घर परिवार से अलग एक मनुष्य के रूप में भी अस्तित्व है, ऐसा व्यापक स्तर पर जागृति, शिक्षा और आर्थिक सशक्तिकरण द्वारा ही सम्भव है।

महिलाओं पर आर्थिक स्थिति का प्रभाव

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (संयुक्त राष्ट्र संघ) की एक रिपोर्ट के अनुसार, 'पुरूषों के बराबर आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता पाने में औरतों को अभी हजार वर्ष लगेंगे। दुनिया की ९८ प्रतिशत पूँजी पर पुरूषों का कब्जा है।' इस दृष्टि से दुनिया की सारी पूँजी पितृसत्ता की पूँजी है। परिवार ही वह पहली संस्था है जहाँ सर्वप्रथम स्त्री और बच्चों को पुरूष के गुलामों की तरह देखा गया। स्त्री-पुरूष के बीच का श्रम विभाजन स्त्री विरोधी एवं पुरूष की सत्ता को मजबूत करता है। यदि लैंगिक बराबरी करनी है तो उसे परिवार से करना होगा।

पूँजीवादी व्यवस्था में स्त्री कामगारों का उपयोग सस्ते श्रम की उपलब्धि से रूप में किया गया। सामान्य स्थिति आने पर स्त्रियों की ही छँटनी सर्वप्रथम की जाती है। स्त्री की बेरोजगारी को कभी भी संकट के रूप में नहीं लिया गया। लिंग आधारित कार्य के बंटवारे द्वारा, स्त्री के कम वेतन को न्यायोचित ठहराया जाता है। 'महिलाओं के काम' के प्रति निम्न दृष्टि रखी जाती है, घरेलू श्रम का कोई आर्थिक मूल्य नहीं लगाया जाता है। आर्थिक संकट की ही स्थिति में समाज स्त्रियों को रोजगार करने की अनुमति देता है, वे स्वतंत्र वृत्ति के रूप में रोजगार नहीं अपना सकती।

आज भी पारिवारिक दायित्व को निभाना ही स्त्रियों का महत्वपूर्ण धर्म माना जाता है। एक ओर पारिवारिक दायित्व दूसरी ओर कार्यस्थल पर जगह बनाने की कोशिश ने स्त्री को दोहरे दायित्वों में बांधा है। कामकाजी होने पर स्त्री दोहरे काम का एकल वेतन पाती है। पॉवर वूमेन अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुक्त नहीं है। घर से काम पर निकली स्त्री को कार्यक्षेत्र में तरह-तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। उन्हें पुरूषों की नौकरी पर कब्जा करने वाली प्रतिद्वन्द्वी के रूप में देखा जाता है। स्त्री को अपनी क्षमता और योग्यता स्थापित करने के लिए अधिक श्रम करना होता है, तब भी उसकी कार्यकुशलता और क्षमता पर शक किया जाता है। उसे कम महत्व के पद दिये जाते हैं।

कार्यस्थल पर सबसे बड़ी समस्या छेड़छाड़ एवं यौन उत्पीड़न की है। पहले माना जाता था कि मनोरंजन के व्यवसाय से जुड़े क्षेत्र में काम करने वाली स्त्रियों को ही यौन उत्पीड़न झेलना पड़ता है लेकिन अनीता हिल प्रकरण (१९९१) ने सारी दुनिया में जीवन के अन्य क्षेत्रों की सच्चाई सामने लाकर रख दी। पुरूषवादी मानसिकता इस बात को मानकर

चलती है कि काम के पीछे घर से बाहर निकली स्त्री छेड़े जाने को तैयार होकर ही बाहर निकलती है। सफल स्त्री की सफलता के पीछे चरित्र को आधार बनाया जाता है, जितनी सफल स्त्री उतनी ही चरित्रहीन। आज की स्त्री इस दोहरे मापदण्ड को चुनौती दे रही है। घर से सड़क पर आयी स्त्री चरित्रहीन घोषित कर दी जाती है। इस संदर्भ में तसलीमा नसरीन की कविता प्रासंगिक है- ''यह अच्छी तरह याद रखना/ तुम जब घर की चौखट लाँघोगी/ लोग तुम्हें टेढ़ी-मेढ़ी नजरों से देखेंगे। जब तुम गली से होकर गुजरोगी,/ लोग तुम्हार पीछा करेंगे, सीटी बजायेंगे/ जब तुम गली पर करके मुख्य सड़क/ पर पहुँचोगी लोग तुम्हें चरित्रहीन कहकर गालियाँ देंगे।''

आज शिक्षित और कामकाजी स्त्री ने प्रतिरोध करती स्त्री को सम्भव बनाया है, स्त्री को सम्भव बनाया है, स्त्री को अपने व्यक्तित्व निर्माण के अवसर पर प्राप्त हुए हैं। कामकाजी महिलायें समाज में स्त्रियों की बदलती भूमिका व दर्जे को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण रही है। आज वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि बौद्धिक और नैतिक क्षमता स्त्री व पुरूष में एक जैसी होती है। पुरूषों में स्त्रियोचित और स्त्रियों में पुरूषोचित गुणों का समावेश आदर्श व्यक्तित्व बनाता है। इतना सिद्ध होने पर भी घरेलू और कामकाजी स्त्रियों का आर्थिक शोषण जारी है इसका प्रमुख कारण समय के साथ न बदलने वाली पुरूष मानसिकता है। पुरूष को अपनी पारम्परिक मानसिकता से बाहर आकर नयी स्त्री का स्वागत करना चहिए और उसे प्रोत्साहित करना चाहिए।

कार्यस्थल पर स्त्रियों को जिस समस्या का सामना सर्वाधिक करना पड़ता है, वह है -छेड़छाड़ एवं यौन उत्पीड़न। कार्यस्थल में थोड़े निचले स्तर पर काम करने वाली स्त्रियों को सहकर्मियों की द्विअर्थी बातों और अश्लील संकेतों का सामना भी करना पड़ता है। पुरूषवादी मानसिकता इस बात को मानकर चलती है कि काम के लिए घर से बाहर निकली स्त्री छेड़े जाने को तैयार होकर ही बाहर निकलती है, इसलिए पुरूष मानसिकता कार्यस्थल पर छेड़ना अपना हक समझते हैं।

अधिकांशतः आज भी यह माना जाता है कि स्त्रियों को परिवार की आय में सहयोग करने हेतु नौकरी करनी चाहिए, स्वतंत्र वृत्ति के रूप में वे कैरिअर नहीं चुन सकती। कैरिअर को ही महत्व देने वाली स्त्री को संदेह से देखा जाना आम बात है। सफल स्त्री की सफलता के पीछे चरित्र को आधार बनाया जाता है जितनी सफल स्त्री उनकी चरित्रहीन। तसलीमा नसरीन की कविता इस संदर्भ में पढ़ी जानी चाहिए -''यह अच्छी तरह याद रखना/ तुम जब घर की चौखट लाँघोगी/ लोग तुम्हें टेढ़ी-मेढ़ी नजरों से देखेंगे। जब तुम गली से होकर गुजरोगी,/ लोग तुम्हार पीछा करेंगे, सीटी बजायेंगे/ जब तुम गली पर करके मुख्य सड़क/ पर पहुँचोगी लोग तुम्हें चरित्रहीन कहकर गालियाँ देंगे। तुम व्यथ हो जाओगी अगर पीछे लौटोगी/ वरना जैसी जा रही हो जाओ।''

नैतिकता और मापदण्ड समाज ने स्त्री-पुरूष के लिए अलग-अलग रखे हैं। आज स्त्री इस दोहरी नैतिकता को चुनौती दे रही है। वह अपने लिए जगह बना रही है। शिक्षित और काम करती स्त्री ने प्रतिरोध करती स्त्री को सम्भव बनाया है। आत्म निर्भर, अकेली, पितृसत्ता से बाहर जाती स्त्री की सम्भावना बढ़ी है। स्त्री के कामकाजी होने से स्त्री की समस्यायें सुलझी नहीं है, वरन् उसे अपने व्यक्तित्व निर्माण के अवसर प्राप्त हुए हैं। आज भी कई कामकाजी स्त्रियाँ सिर्फ पैसा कमा रही है, परन्तु उनकी स्थिति में फर्क नहीं आया है। वे हर बात के लिए परिवार पर निर्भर और कई बार दोहरे कार्य भार के चलते तनावग्रस्त है, स्वनिर्णय के अवसर उन्होंने नहीं प्राप्त किये हैं। स्थायी सम्पत्ति की खरीददार स्त्री का प्रतिशत अभी भी नगण्य है।

संदर्भ ग्रन्थ

योजना, अक्टूबर २००८
राम अहूजा -*सामाजिक समस्यायें*
कुरूक्षेत्र, मार्च २००८
अरविन्द जैन -*उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार,* राजकमल प्रकाशन, २००१, पृष्ठ संख्या २३
हंस, मार्च २००१, पृष्ठ संख्या ३९

जर्मेन ग्रीयर -*विद्रोही स्त्री,* पृष्ठ संख्या १०८-१२५
हंस, भूमण्डलीकरण विशेषांक, मार्च २००१, पृष्ठ संख्या ३७
सुधीश पचौरी -*स्त्री देह के विमर्श,* आत्माराम एण्ड सन्स, २०००, पृष्ठ संख्या ८१
सुमन कृष्णकान्त -*२१वीं सदी की ओर,* राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ संख्या १६३ पर उद्धृत

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,12-13**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 31 अक्टूबर 2017

नागार्जुन : प्रगतिशील (प्रगतिवादी) चेतना

डॉ० अंशुमाला मिश्रा*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *नागार्जुन : प्रगतिशील (प्रयोगवादी) चेतना* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *अंशुमाला मिश्रा* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों में 'नागार्जुन' का विशिष्ट स्थान है। राजनीतिक रूप में नागार्जुन साम्यवादी विचारधारा के पोषक रहे, इसलिए इनकी कविताओं में सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्रण हुआ है। शोषण के विरूद्ध आवाज उठाकर शोषितों के प्रति सहानुभूति दिखाकर तथा अन्याय एवं अत्याचार का विरोध करने वाली कविताओं की रचना करने नागार्जुन जी ने प्रगतिवादी विचारधारा का पोषण किया। पीड़ित मानवता को स्वर प्रदान कर नागर्जुन ने कवि के उत्तरदयित्व को भली-भाँति निबाहा है।

नागार्जुन की 'प्रगतिशील चेतना' को निम्नलिखित बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है :

राष्ट्रीयता की भावना की अभिव्यक्ति

नागार्जुन को देश की धरती से और उस पर बसने वाली जनता से गहरा प्यार है। वे जन-मंगल के आकांक्षी है और जागरण के प्रतीक प्रतीत होते हैं। उनकी कविताओं में राष्ट्रीय भावों से सजी हुई पंक्तियाँ हैं जो प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में उभरी है। उनकी राष्ट्रीयता के कई रूप हैं। कहीं राष्ट्र के महात्माओं के प्रति श्रद्धा भाव दिखता है तो कहीं वर्तमान की पीड़ा के प्रति क्षोभ, प्रगति के लिए आशा, संघर्ष की तैयारी और राष्ट्रीय आस्था की अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती है। 'रामराज्य' कविता में वह कह उठते हैं -''भारत माता के गालों पर, कस कर पड़ा तमाचा है। रामराज में अबकी रावन, नंगा होकर नाचा है।।''

शोषित -उत्पीड़ित जनता से जुड़ाव

कवि नागार्जुन ने युगीन यथार्थ एवं समसामयिक चेतना को अपने काव्य का विषय बनाया है। वे यह देख रहे थे कि शोषित वर्ग अभावों की चक्की में पिस रहा है, कृषक अनेक समस्याओं से जूझ रहा है, श्रमिक भरपेट भोजन नहीं जुटा पा रहा, किन्तु उच्च वर्ग के लोग भोग विलास में पानी की तरह धन बहा रहे हैं। लोग मुखौटा लगाए दोहरी जिंदगी जी रहे हैं -''वे लोहा पीट रहे हैं/ तुम मन को पीट

* वरिष्ठ प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, जगत तारन गर्ल्स डिग्री कॉलज (इलाहाबाद विश्वविद्यालय से सम्बद्ध) इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

रहे हो। वे पत्थर जोड़ रहे हैं/ तुम सपने जोड़ रहे हो।।''

ग्राम्य जीवन से लगाव/ लोकदृष्टि

नागार्जुन को लोक कवि कहना भी समीचीन है। वे जन कवि हैं, जनता के चारण हैं। उनकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। वे गाँव गली की बात करते हैं और उसी भाषा में कहते हैं जिससे सब परिचित हैं। प्रकृति का चित्रण भी वह इसी परिप्रेक्ष्य में करते हैं, जहाँ यह जीवन और जरूरतों से जुड़ी है। प्रकृति वर्ग संघर्ष में भी सहायक है- ''खेत हमारे भूमि हमारी/ सारा देश हमारा है। इसलिए तो हमको इसका/ चप्पा-चप्पा प्यारा है।।''

सामाजिक परिवर्तन पर बल

नागार्जुन प्रगतिवादी कवि हैं और प्रगतिवाद का मुख्य लक्ष्य है व्यवस्था परिवर्तन। प्रगतिवाद मानता है कि विध्वंस के बिना नया सृजन संभव नहीं है; पर यह सृजन हिंसक न हो। नागार्जुन में भी सामाजिक विषमता के प्रति आक्रोश है, जनता से सहानुभूति है। देश की वर्तमान दशा से वह दुःखी हैं और उनका कवि हृदय चाहता है कि महापुरूषों के व्यक्तित्व को प्राचीनता से मुक्त कर दिया। सुभाष केवल बंगाल के नहीं सम्पूर्ण भारत के 'हीरो' हैं, तिलक महाराष्ट्र के नहीं भारत के गौरव हैं, गाँधी जी गुजरात के नहीं पूरे भारत के बापू हैं। नागार्जुन समाज को इस अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त कर देना चाहते हैं।

नागार्जुन की कविता में जन-जीवन की आशा-आकांक्षा है, वह सामाजिक चेतना से युक्त है तथा उसमें जनवादी स्वर सर्वोपरि है। वह अभावों से पीड़ित एवं शोषण से त्रस्त जनता को दुख-दर्द को व्यक्त करने वाली जमीन से जुड़ी कवि हैं।

प्रो० रामचरण महेन्द्र के अनुसार- ''नागार्जुन सर्वहारा कविता की धारा को तीव्र कर देते हैं। उनमें मजदूर वर्ग की संघर्षशील चेतना समुन्नत रूप में प्रकट हुई है। पूँजीवादी चट्टानों से टकराती, भयंकर संघर्षों से तपती, मजदूर वर्ग की हिमायत करती हुई, नागार्जुन की काव्यधारा जनवादी परम्पराओं में आगे बढ़ी है।

नागार्जुन प्रकृति चित्रण

नागार्जुन प्रकृति के कुशल चितेरे है। जनपद की प्रकृति और मौसम में जो उनकी सम्पूर्ण आन्तरिक चेतना बसती है या यों कहा जा सकता है कि उसकी चेतना में जनपद अपने सम्पूर्ण भोलेपन और सौन्दर्य में निवास करता है।

प्रकृति के प्रति नागार्जुन की दृष्टि रोमैंटिक या रोमानी नहीं है। वह तो पाठकों को अपने साथ खेत की मेड़ों कछारों, गेहूँ-धान की सुनहली बालों, मौलश्री-कहटल के पोड़ों के बीच ले जाकर पूरे परिवेश को वंशी-मादल के किशोरियों के कोकिल कंठ, बाल्य स्मृतियों से जोड़कर जीवन की सार्थकता के अस्तित्व बना देता है। जिस जीवनोत्सव की चर्चा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है उसे नागार्जुन के प्रवृत्ति-चित्रों में देखा ही नहीं जा सकता, अनुभव किया जा सकता है जैसे -'वंशी पर फिरते देखा है, बादल को घिरते देखा है।' ''निकलेंगे झोपड़ों से होकर उलंग/ रहेगा जामुन का - सा देह का रंग/ सिखायेंगे झरनों को बहने का ढंग/ ढलेंगे छन्द मादल-बाँसुरी के संग।''

नागार्जुन के प्रकृति-चित्र प्रायः जनपदीय है और भाषा पर उसका गहरा रंग है। ये प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र नहीं खींचते और न उसका मानवीकरण करते हैं। कवि की रक्त-मज्जा में रसी-बसी प्रकृति विभिन्न ऋतुओं में अपरूप रूप को बोलती चलती है, मादल-वंशी के संग छन्द ढलते चलते हैं। वह प्रकृति का एक ओर ग्राम्य संस्कृति से जोड़ते हैं तो दूसरी ओर जनवादी चेतना से।

प्रकृति-चित्रों की शैली चित्रात्मक है तो राजनीतिक कविताओं की शैली व्यंग्यात्मक या वक्रात्मक। इसे नाट्यत्मक बयान की संज्ञा दी जा सकती है। सम्बोधन करते समय वह बतकही की मुद्रा अपनाता है और नागार्जुन कह उठते हैं -''जन-जन में जो ऊर्जा भर दे/ मै उद्गाता हूँ उस रवि का।''

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,14-16**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 27 नवम्बर 2017

गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन और वर्तमान राजनीति

डॉ० सीमा रानी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन और वर्तमान राजनीति* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *सीमा रानी* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

''गाँधी जी का आग्रह था कि राजनीति का आधार धर्म होना चाहिए। उन्होंने उपयोगिता के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया कि धर्म व्यक्ति का निजी मामला है और इसलिए राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।'' –विश्वनाथ प्रसाद वर्मा।[१]

महात्मा गांधी एक पैगम्बर भी थे और राजनीतिज्ञ भी। वस्तुत: वे धार्मिक व्यक्ति थे। वे अन्त: चेतना के प्राणी थे। वे ईश्वर भक्त थे। उन्होने धर्म से पृथक राजनीति की कल्पना नहीं की थी। उनके लिए धर्म वैयक्तिक शुद्धि का ही साधन नहीं था अपितु सामाजिक एकता का भी प्रबल सूत्र था। उनके अनुसार, ''धर्म को जड़ से उखाड़ फेंकने पर समाज का विनाश हो जायेगा।''[२] उनके लिए यह स्थिति बहुत कष्टदायी थी कि धर्म रहित राजनीति का साम्राज्य हो तथा छल छद्म युक्त राजनीति की प्रमुखता हो। उन्होंने कहा कि कुटिल राजनीति जो नैतिकता विहीन हो, किसी भी दशा में उचित नहीं है। गांधी जी ने सत्य, अहिंसा और धर्म पर आधारित अपने राजनीतिक दर्शन का महल खड़ा किया। वर्तमान में राजनीति को इस दर्शन की सबसे अधिक आवश्यकता है।

गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन राजनीति और धर्म के बीच अटूट सम्बन्ध पर आधारित है। उन्होंने राजनीति को ऊपर उठाकर नि:स्वार्थ लोक सेवा तथा नैतिकता के स्तर पर रखा। उनका कहना था कि राजनीति तमाम बुराईयों के बावजूद मनुष्य के लिए अनिवार्य है। गाँधी जी धर्म को मानव जीवन में सर्वोपरि स्थान प्रदान करते हैं तथा धर्म के बिना उसका कोई महत्व स्वीकार नहीं करते हैं। राजनीति और धर्म की अविच्छेदनीयता की व्याख्या करते हुए वे कहते है, ''जो व्यक्ति राजनीति और धर्म को असम्बद्ध और विच्छेदनीय मानते हैं, वे धर्म का अर्थ नहीं जानते और राजनीति से भी अपरिचित है।''[३] अत: गाँधी जी के अनुसार धर्म और राजनीति को अलग नहीं किया जा सकता। वे एक दूसरे के पूरक है। वास्तव में गाँधी जी धर्मविहीन राजनीति को कोई महत्व प्रदान नहीं करते हैं। उनका कथन है कि, ''मेरे लिए धर्मविहीन राजनीति का कोई महत्व नहीं है। राजनीति धर्म के अन्तर्गत

* असिस्टेंट प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, दमयन्ती राज आनन्द राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय (बिसौली) बदायूँ (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

है, बाहर नहीं। धर्मविहीन राजनीति मृत्यु के समान हैं क्योंकि वह आत्मा का हनन करती है।''[४]

राजनीति को धार्मिक अर्थात् नैतिक रूप प्रदान करना तथा उसे ही मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का आधार बनाना गाँधी जी के राजनीतिक जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। गाँधी जी ने कहा कि– ''यदि आज मैं राजनीति में हिस्सा लेता हुआ दिखाई पड़ता हूँ तो उसका एकमात्र कारण यही है कि राजनीति वर्तमान समय में हमें सांप की तरह चारों ओर लपेटे हुए है जिसके चंगुल से हम कितनी ही कोशिश क्यों न करें, नही निकल सकते'' इसलिए उन्होंने उस सांप को बदलने की कोशिश की और कहा– ''मैं उस साँप से द्वन्द्व युद्ध करना चाहता हूँ अत: मैं राजनीति में धर्म को लाना चाहूँगा।''[५]

गाँधी जी का दृढ़ विश्वास था कि ''जैसे साधन होंगे वैसे ही साध्य होगे। इसलिए उन्होंने कहा कि राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं है, बल्कि वह लाखों पद–दलितों को सुन्दर जीवन–यापन करने योग्य बनाने, मानवीय गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतंत्र और बन्धुत्व तथा आध्यात्मिक गहराइयों व सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। राजनीति में धर्म का समावेश सत्य और न्याय की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होना है। ''धर्म से पृथक राजनीति एक मृत देह के समान है जिसको जला देना ही उचित है।''[६]

वास्तव में गाँधी जी का सम्पूर्ण जीवन ही नैतिकता की सतत् साधना है। उन्होंने नैतिक मूल्यों को हमारे रोजमर्रा की व्यक्तिगत एवं सामाजिक समस्याओं से जोड़ दिया। गाँधी जी साफ कहते है– ''अहिंसा सत्ता पर कब्जा नहीं दिलवा सकती और यह उसका लक्ष्य हो भी नहीं सकता। हाँ सत्ता को प्रभावशाली ढंग से काबू में लाकर उसे संचालित जरूर कर सकती है लेकिन सरकार या प्रशासन तंत्र को हथियाए बिना।''[७]

गाँधी जी ने राजनीति को धर्म के रंग में रंगकर नैतिक मूल्यों पर आधारित किया। उन्होंने राजनीति से विग्रह, विघटन, विद्रोह और विनाश की प्रवृत्तियों के उन्मूलन पर जोर दिया तथा राजनीति में भावना–सहयोग, समन्वय और संगठनात्मक तत्वों का अधिकतम समावेश करना चाहा। गाँधी जी का राजनीति के आध्यात्मीकरण का विचार कोरा विचार ही नहीं था अपितु उन्होंने अपने जीवनकाल में उसे कार्यान्वित भी किया। उन्होंने सत्य, अहिंसा आदि धार्मिक–नैतिक सिद्धान्तों का राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में, जो सफलतापूर्वक प्रयोग किया, उसे सम्पूर्ण विश्व के राजनीतिज्ञों ने उसकी आश्चर्य और श्रद्धा से सराहना की। एक सन्त राजनीतिज्ञ के रूप में उन्होंने विश्वव्यापी ख्याति अर्जित की। ''राजनीति में धर्म का समन्वय'' आधुनिक पीड़ित मानवता को उनकी सबसे महान देन है।[८]

परन्तु वर्तमान राजनीति में न नैतिकता दिखाई पड़ती है और न कोई मूल्य। आज अगर गाँधी जी हमारे बीच होते तो उन्होंने राजनीति में बढ़ती हिंसा, भ्रष्टाचार, अमर्यादा की कठोरता से आलोचना की होती।

गाँधी जी के लिए राजनीति धर्म और नैतिकता की एक शाखा थी। अत: उन्होंने राजनीति को शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं माना। उग्रवादी तिलक ने एक बार कहा था कि राजनीति साधुओं का खेल नहीं है। इस पर गाँधी जी का उत्तर था– ''राजनीति साधुओं का और केवल साधुओं का कार्य है।'' साधुओं से उनका आशय अच्छे व्यक्तियों से था। गाँधी जी के विचारों के समर्थन में डॉ० राधाकृष्णन का यह मत ग्राह्य है कि राजनीति क्षेत्र में विश्व को अधिक सफलता मुख्यत: इसलिए प्राप्त नहीं हुई कि उसने राजनीति से धर्म को पृथक रखा है।[९]

गाँधी जी ने जो आदर्श समाज–व्यवस्था प्रस्तुत की, वह पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्ष थी। वास्तव में वह राज्य को नीति–धर्म के शाश्वत और सार्वभौमिक नियमो–सत्य, अहिंसा, प्रेम सेवा पर आधारित करना चाहते थे।

परन्तु आज गाँधी जी का राजनीतिक दर्शन परियों की कहानी सा लगता है। आज भारत की दलगत राजनीति किसी से छिपी नहीं है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है कि ''अंधेरा छा जाएगा जहाँ में अगर यही रोशनी रही।''

गाँधी जी ने भारत सरकार के मंत्रियों के लिए एक आचार संहिता बनाई थी। अपने को गाँधी का शिष्य मानने वाले कितने मंत्री है जो यह मानते हैं कि मंत्री पद सत्ता का नहीं, सेवा का द्वार है, कि पदों के लिए छीना झपटी होनी ही नहीं चाहिए। लालफीताशाही को खत्म करने की योजना तो वे क्या बनाते, वे स्वयं उसका शिकार हो गए है। आज देश में विदेशी वस्तुओं का क्रेज बढ़ रहा है और गाँधी जी बात करते थे स्वदेशी की। वे कहते थे कि मंत्रियों को और गवर्नरों को ज्यादा से ज्यादा सत्यपरायण, अहिंसापरायण, नम्र और सहनशील होना चाहिए। परन्तु आज मंत्रियों में इनमें से एक गुण भी देखने को नहीं मिलता। कुर्सी की लालसा, बदले की भावना ने राजनीति को गर्त में डुबो दिया है।[१०]

अत: आज प्रश्न यह नहीं है कि हम गाँधी जी को कितना स्वीकार करते है बल्कि उनके विचारों के पीछे जो भावना है उसको समझना है। विचार शाश्वत है लेकिन निरन्तर विकसित भी होता है। यह विकसित होना ही उसके शाश्वत होने की गांरटी है। इस रहस्य को ही हमें समझना है।

संदर्भ ग्रंथ

[१]*विश्वनाथ प्रसाद वर्मा की पुस्तक से उद्‌धृत,* पृष्ठ संख्या–२७६

[२]डॉ० भद्रदत्त शर्मा एवं डॉ० अंजनी कुमार जमदग्नि –*''भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन''* १९९९, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा–३, पृष्ठ संख्या–२३५

[३]जीवन मेहता –*''प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक''* २००८, साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ संख्या–२५३

[४]*देखें वही संदर्भ।*

[५]डॉ० अमरेश्वर अवस्थी एवं डॉ० रामकुमार अवस्थी –*''आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन'',* १९७४, रिसर्च पब्लिकेशन, नई दिल्ली, जयपुर, पृष्ठ संख्या–३७७

[६]डॉ० प्रभुदत्त शर्मा –*''अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन (मार्क्स से अब तक),''* २०००, कालेज बुक डिपो, नई दिल्ली, जयपुर, पृष्ठ संख्या –२६७

[७]*समाज विज्ञान शोध पत्रिका,* वोल्यूम VI, नं. २ (२००७).

[८]डॉ० प्रभुदत्त शर्मा –*''अर्वाचीन राजनीतिक चिन्तन (मार्क्स से अब तक),* २०००, कालेज बुक डिपो, नई दिल्ली, जयपुर, पृष्ठ संख्या–२६८

[९]शम्भूरत्न त्रिपाठी –*गाँधी–धर्म और समाज,* पृष्ठ संख्या ३७

[१०]विष्णु प्रभाकर –*''गांधी : समय, समाज और संस्कृति''* २०००, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या–१४८

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,21-23**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 22 नवम्बर 2017

स्वामी विवेकानन्द के विचार और वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता

प्रो० अंजली श्रीवास्तव*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *स्वामी विवेकानन्द के विचार और वर्तमान में उनकी प्रासंगिकता* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *अंजली श्रीवास्तव* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

सारांश

युवाओं के प्रखर प्रेरणा स्त्रोत युगनायक स्वामी विवेकानन्द राष्ट्र निर्माण के प्रथम मंत्र द्रष्टा थे, जो युवाओं के बल पर इस महान कार्य को क्रियान्वित करना चाहते थे। स्वामी विवेकानन्द का जीवन एवं उनकी विचारधारा सम्पूर्ण विश्व के असंख्य लोगों को प्रेरणा देती आ रही है। उनके ओजस्वी शब्दों ने न जाने कितने हतोत्साहित एवं निराश लोगों को आशा की किरण दिखाई है। उनके ज्वलंत उद्घोष में सभी समस्याओं का समाधान मिलता है और युवाओं को नूतन राह भी। शाश्वत के प्रतीक–प्रतिनिधि स्वामीजी आज भी युवाओं के आदर्श हैं। उनके कालजयी प्रेरणादायक विचार केवल भारत के ही नहीं बल्कि विश्व के युवाओं के लिए प्रासंगिक एवं अनुकरणीय हैं।

भारत की आबादी में लगभग ४० प्रतिशत हिस्सेदारी युवा शक्ति की है। विकसित दुनिया के अधिकतर देश बूढ़ी होती जनसंख्या वाले राष्ट्र बनते जा रहे हैं, लेकिन भारत २०२० तक दुनिया का सबसे युवा देश बनने जा रहा है। युवा शक्ति देश का सबसे कीमती मानव संसाधन है। देश के भविष्य के रुप में युवाओं को राष्ट्र निर्माण में अद्भुत भूमिका निभानी है। उनकी रचनात्मक सामर्थ्य, उत्साह, ऊर्जा और बहुमुखी प्रतिभा किसी भी देश के लिए आश्चर्यजनक परिणाम दे सकती है। युवा राष्ट्र निर्माण के स्तम्भ हैं। उनके हाथों में भाग्य बदल देने की शक्ति होती है। अपना भाग्य बदलने के लिए प्रयत्नशील प्रत्येक देश के पास इस अद्भुत संसाधन की ऊर्जा एवं महत्वाकांक्षाओं का उपयोग करने के रास्ते और तरीके होने चाहिये। फैंकलिन रुजवेल्ट ने एक बार कहा था–'हम हमेशा अपने युवाओं का भविष्य निर्माण नहीं कर सकते, लेकिन हम भविष्य के लिए अपने युवाओं का निर्माण कर सकते हैं।'

आज युवाओं का रक्त पानी जैसा हो गया है, मस्तिष्क मुर्दा और शरीर दुर्बल। युवा वर्ग की वर्तमान दशा और दिशा नकारात्मक सोच एवं निषेधात्मक प्रवृतियों से सारोबार है। नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडीज के एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि

* सहायक प्राध्यापिका, अर्थशास्त्र विभाग, शासकीय महाराजा महाविद्यालय (सम्बद्ध महाराजा छत्रसाल बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय) छतरपुर (मध्य प्रदेश) भारत। (आजीवन सदस्य)

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

१६ से २५ वर्ष के युवाओं की बड़ी आबादी कुंठा, अक्रोश, नशा एवं अपराधिक प्रवृतियों में बुरी तरह फंसी हुई है। युवाओं में तनाव, अवसाद आदि मनोरोग पिछले दो दशकों में तीव्रता से पनपे हैं। युवाओं का एक वर्ग ऐसा भी है जो बेरोजगारी, अर्थ– संकट एवं असफलता से थका–हारा नशे में डूब कर जीवन के कड़वे यथार्थ से पलायन करना चाहता है। असहाय, बेसहारा, पददलित युवा अंततः अपराध और आतंकवाद के दलदल में प्रवेश कर महाविनाश के पथ पर बढ़ रहा है ऐसे समय में स्वामी जी के विचार आज के विखंडित एवं पथभ्रष्ट समाज को जोड़ने के लिए रामबाण औषधि है।

स्वामी जी युवाओं का आह्वान करते हुए कहते हैं– 'इस समय अपार बल और पवित्र वीर्य की आवश्यकता है। दुर्बलता का उपचार सदैव उसका चिंतन करते रहना नहीं है वरन बल का चिंतन करना है। हमारे देश के लिए इस समय आवश्यकता है– लोहे की तरह ठोस मांसपेशियाँ और मजबूत स्नायु वाले शरीरों की। आवश्यकता है– इस तरह के दृढ़ इच्छाशक्ति सम्पन्न होने की कि कोई उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो। आवश्यकता है– ऐसी अदम्य इच्छाशक्ति की जो ब्रह्मांड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि इस कार्य को करने के लिए अथाह समुद्र के मार्ग में जाना पड़े और मौत का सामना भी करना पड़े तो हमें यह करना होगा।' आज के युवाओं के लिए स्वामी जी का यह संदेश अभी भी उतना ही सामयिक है जितना शताब्दी पूर्व था। स्वामीजी कहा करते थे कि यदि युवाओं की उन्नत ऊर्जा को सही दिशा प्रदान कर दी जाये तो राष्ट्र के विकास को नए आयाम मिल सकते हैं। उन्होने युवा वर्ग के चरित्र निर्माण के पाँच सूत्र दिए– आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, आत्मज्ञान, आत्मसंयम और आत्मत्याग। इन पांच तत्वों के अनुशीलन से व्यक्ति स्वयं के व्यक्तित्व तथा देश और समाज का पुनर्निर्माण कर सकता है। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था– जीवन में एक ही लक्ष्य साधो और दिन–रात उस लक्ष्य के बारे में सोचो और फिर जुट जाओ उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए। हमें किसी भी परिस्थिति में अपने लक्ष्य से भटकना नहीं चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे– आदर्श को पकड़ने के लिए सहस्त्र बार आगे बढ़ो और यदि फिर भी असफल हो जाओ तो एक बार नया प्रयास अवश्य करो। इस आधार पर सफलता सहज ही निश्चित हो जाती है।

यद्यपि स्वामी विवेकानन्द भारत की प्राचीन संस्कृति के महान पुजारी थे परन्तु उन्होने प्रचलित रूढ़िवादिता और संकीर्णता के विरूद्ध एक विध्वंसकारी योद्धा के समान संघर्ष भी किया था। वे तत्कालीन जाति प्रथा के कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि ज्ञान केवल ब्राह्मणों के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता, इसे कोई भी इनसान प्राप्त कर सकता है। शूरवीर योद्धा की भांति स्वामीजी ने उद्घोष किया कि शूद्रों को यदि ज्ञान देने में ब्राह्मण जाति आगे नहीं आती तो मैं इन्हे ज्ञान दूँगा और समझाऊँगा कि तुम इनसान हो, ज्ञान प्राप्त करना तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है। स्वामी जी मानते थे कि आधुनिक युग में वर्ण–व्यवस्था सामाजिक अत्याचारों को बढ़ावा देने वाली है, इस वर्ग व जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज को खोखला कर दिया है। वे अधिकारवाद के विरोधी थे। सर्वप्रथम उन्होनें परम्परावादी ब्राह्मणों के एकाधिकारवाद पर आघात किया। अस्पृश्यता भारतीय समाज का कोढ़ रहा है, विवेकानन्द ने इसका घोर विरोध किया। उनका कहना था कि ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं, अतः किसी विशेष जाति या वर्ग को हीन दृष्टि से देखना अत्यन्त क्रूरता है और अति दुःखद है। उनका कहना था कि अछूतों को वे सब अधिकार मिलने चाहिये जिनका कि उपभोग उच्च जातियाँ करती हैं। स्वामीजी जैसा कहते थे वैसा ही उनका आचरण था। एक बार एक व्यक्ति को हुक्का पीते देखा तो उनके मन में भी चिलम पीने की इच्छा हो आई। जब उस व्यक्ति से चिलम मांगी तो उसने कहा, मैं तो जाति का मेहतर हूँ, लेकिन उन्होंने उस मेहतर से आग्रहपूर्वक चिलम मांग कर पी। इसी प्रकार जब वे खेतड़ी में भ्रमण कर रहे थे तब उन्हे एक गांव में तीन दिन तक अन्न–पानी नहीं मिला, यह देखकर एक वृद्ध चमार को बड़ा तरस आया। वह रात के समय उनके पास पहुँचा और खाने के संबंध में पूछने लगा, तब स्वामीजी ने उससे रोटी मंगा कर खाई। कुछ समय बाद जब स्वामीजी खेतड़ी के राजा के यहाँ अतिथि थे तब उन्होनें इस घटना का जिक्र महाराज से किया। महाराज ने चमार को बुलाकर उसके जीवन भर के गुजारे की व्यवस्था कर दी।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत की स्त्रियों की दीन–हीन दशा को देखा और उन्होनें उनके अधिकारों तथा सुधार के लिए अपनी आवाज बुलन्द की। उनका कथन है कि वैदिक काल में भारतीय स्त्रियाँ पुरूषों के समान समस्त अधिकारों का उपभोग करतीं थीं परन्तु आज भारत की नारी केवल उपभोग की वस्तु बनकर रह गई है। पुरूष उसे केवल दासी मात्र समझते हैं। यदि हमने स्त्रियों की दशा को नहीं सुधारा तो राष्ट्र कल्याण की कल्पना करना व्यर्थ है। युगनायक एवं राष्ट्र निर्माता स्वामी विवेकानन्द कहते हैं– 'किसी भी राष्ट्र की प्रगति का सर्वोत्तम थर्मामीटर है, वहाँ की महिलाओं की स्थिति। हमें नारियों को ऐसी स्थिति में पहुँचा

देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्याओं को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सकें। हमें नारी शक्ति के उद्धारक नहीं, वरन उनके सेवक और सहायक बनना चाहिए। भारतीय नारियाँ संसार की अन्य किन्ही भी नारियों की भांति अपनी समस्याओं को सुलझाने की क्षमता रखती हैं। आवश्यकता है उन्हें उपयुक्त अवसर देने की। इसी आधार पर भारत के उज्ज्वल भविष्य की संभावनाएं सन्निहित हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने गरीबी को भोगा था, अत: वो जानते थे कि जब तक भारत में गरीबी का निर्मूलन नहीं होगा तब तक भारत का सांस्कृतिक और भौतिक विकास संभव नहीं है। उनका कहना था कि सदियों के शोषण के कारण गरीब जनता मानव होने तक का एहसास खो चुकी है और स्वयं को जन्म से ही गुलाम समझती है। इसी कारण इस वर्ग में विश्वास एवं गौरव जागृत करने की महती आवश्यकता है। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कमजोर व्यक्ति वह होता है जो स्वयं को कमजोर समझता है और इसके विपरीत जो व्यक्ति स्वयं को सशक्त समझता है वह पूरे विश्व के लिए अजेय हो जाता है।

महापुरूषों का व्यक्तित्व एवं कृतित्व समय एवं स्थान की सीमाओं में बांधा नहीं जा सकता। स्वामी विवेकानन्द के जीवन के प्रेरक प्रसंगों ने जिस प्रकार विचारशील लोगों को झकझोरा और प्रेरित किया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने जीवन काल की अपेक्षा आज के वर्तमान युग में और भी अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। उनका भारत के प्रति स्नेह, उनका शैक्षिक दर्शन, महिलाओं एवं समाज के वंचित वर्गों के प्रति उनके विचार, उनकी सहानुभूति तथा निष्काम कर्म के प्रति उनकी आस्था आज भी प्रासंगिक है। स्वामी विवेकानन्द का प्रत्येक भारतीय के लिए संदेश था– 'जागो, उठो और तब तक प्रयत्न करो जब तक कि लक्ष्य प्राप्त न हो।'

संदर्भ सूची

महापुरूषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग –पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय
अखण्ड ज्योति – जुलाई २००६, मार्च २००७
योजना – २०१७
पत्र सूचना कार्यालय, भारत सरकार
हिन्दी वर्ल्ड

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,24-32**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 29 दिसम्बर 2017

जॉन डीवी का जीवन दर्शन

व्यासमुनि सिंह*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *जॉन डीवी का जीवन दर्शन* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र का लेखक मैं *व्यासमुनि सिंह* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैंने शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

आत्मा सम्बन्धी विचार

डीवी महोदय ने आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचारों को महत्ता न प्रदान करते हुए आत्मा की परिकल्पना सामाजिक दृष्टि से की है। उनके विचार से आत्मा कोई सूक्ष्म एवं अदृश्य वस्तु न होकर स्थूल रूप से व्यक्ति के सामाजिक एवं व्यक्तिगत व्यवहारों एवं प्रयोगों में पाई जाती है। डीवी के अनुसार मन का ही दूसरा नाम आत्मा है और मन एक पदार्थजन्य क्रियाशील तत्व है।[१]

मूल्य सम्बन्धी विचार

मूल्य वस्तुतः दिशा निर्देशक तत्व के रूप में स्वीकृत किये जाते हैं। मूल्य एक नियम है, एक सिद्धान्त है, एक अनुशासन है, जीवन को सुधरने संवारने और सुखमय बनाने का। इन नियमों को, सिद्धान्तों को कहां किस सीमा तक लागू किया जाये, यह वस्तुतः तात्कालिक परिस्थतियों और क्षेत्रीय विषमताओं पर निर्भर करता है। यही कारण कि इन नियमों और सिद्धान्तों का स्वरूप विभिन्न समाजों और कालों में भिन्न-भिन्न होकर भी इन्हें मूल्यों की श्रेणी में रखा जासकता है।[२]

उदाहरणार्थ वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पानी रासायनिक तत्व आक्सीजन और हाइड्रोजन के मिलने से बनता है किन्तु विभिन्न स्रोतों जैसे नदी का पानी मीठा होता है तो समुद्र का खारा, झरने के पानी में गंधक की मात्रा अधिक हो सकती है तो नल के पानी में किसी अन्य पदार्थ की। अर्थात् विभिन्न स्थानों, क्षेत्रों पर पानी की गुणवत्ता परिवर्तित होती रहती किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से सभी स्थानों तथा क्षेत्रों का जल आक्सीजन तथा हाइड्रोजन के अणुओं का संयुक्त मिश्रण ही

* (एम०एस०सी०, बी०एड्०) प्रधानाचार्य, श्री० शिवजपत सिंह जनता इण्टर कॉलेज (भिरौली बाजार) महराजगंज (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

है। ठीक इसी प्रकार कोई भी विचार या सिद्धान्त मूल्य हो सकता है यदि वे जीवन और समाज के लिये उपयोगी है तो भले ही क्षेत्रीय विभिन्नताओं और परिस्थितिगत विषमताओं के कारण उनका स्वरूप भिन्न-भिन्न क्यों न हो।

डीवी इस संसार को किसी दैवीय शक्ति की कृति नहीं मानते, वे इसे विभिन्न क्रियाओं का परिणाम मानते हैं और उनका मानना है यह संसार सदैव गतिशील एवं निर्माणावस्था में रहता है, साथ ही इसमें सदैव परिवर्तन होता रहता है। सत्य, वास्तविकता के स्वरूप में परिवर्तन होने से मूल्य भी परिवर्तित होते रहते है। डीवी के मतानुसार सत्य, मूल्य, आदर्श स्थिर और शाश्वत नहीं होते हैं। इन्हें पूर्व-निर्धारित नहीं किया जा सकता और न ही सत्य का स्वरूप अन्तिम हो सकता है अर्थात् किसी भी सत्य को भविष्य के लिये भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता है। अतः डीवी किसी सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक सत्य, मूल्य अथवा आदर्श में विश्वास नहीं करते हुए मानते हैं कि जगत् की घटनाओं का निश्चयीकरण पूर्व निर्मित या आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नहीं होता।

डीवी की धारणा है कि बदलते सन्दर्भों में, परिस्थितियों में तत्कालीन उपयोगिता के आधार पर व्यक्ति नये-नये सत्यों मूल्यों की प्रतिस्थापना करता रहता है फिर भी अज्ञानतावश वह इन मूल्यों, आदर्शों और सत्य के सन्दर्भ में पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है और वह यह मानने के लिये कतई तैयार ही नहीं होता है कि पूर्व निर्धारित मूल्य या सत्य परिवर्तित सन्दर्भो में पूर्णतया त्याज्य एवं औचित्यहीन है।[३]

डीवी के अनुसार, विचार, मान्यता आदि यदि पूर्णरूपेण स्वस्थ एवं उपयुक्त हैं, तो वे सत्य हैं, यदि वे भ्रम, संशय, बुराई आदि को बढ़ावा देते हैं तो वे असत्य है। जॉन डीवी सत्य की परख केवल उपयोगिता के आधार पर करते हैं। उनका मानना है सत्य केवल व्यक्ति का अनुभव है, अनुभव द्वारा ज्ञान की वृद्धि एवं सत्य का आगमन होता है और मनुष्य स्वयं आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना करता है। डीवी के विचारों से स्पष्ट है कि मूल्य निश्चित न होकर निर्मित होते हैं और उनकी सत्यता विचारों की पूर्णता एवं स्वस्थता पर आधारित होती है, जो विचार कार्य में बाधा नहीं डालते वरन् उसे सुचारू रूप से जारी रखते हैं, वे सत्य होते हैं और तत्कालीन समय में जीवन मूल्य होते हैं।

डीवी की स्पष्ट धारणा है कि एक ही व्यक्ति के जीवन में प्रत्येक परिस्थिति के अनुरूप उसकी स्थिति एवं भूमिका में भी परिवर्तन होता रहता है तो फिर इतने वृहत्तशील भौतिक जगत् में मूल्यों को पूर्वनिर्धारित कैसे किया जा सकता है। जॉन डीवी को उद्धृत करते हुए पाठक एवं त्यागी ले लिखा है कि, 'जो परिकल्पना व्यावहारिक रूप में कार्य करती है वह सत्य है, भाव-वाचक संज्ञा है। जिनका प्रयोग उन वास्तविक पूर्व अनुमानित और वांछित तथ्यों के संकलन हेतु किया जाता है जिनकी अपने परिणामों द्वारा पुष्टि होती है।[४]

इस प्रकार डीवी के अनुसार सत्य वही है जो समाज एवं मानव हेतु उपयोगी हो जो कसौटी पर खरा उतर सके। कल का सत्य आज असत्य हो सकता यदि उससे कार्य सिद्धि न हो।[५]

मन सम्बन्धी विचार[६]

डीवी ने अपने जीवन दर्शन में मन मस्तिष्क को महत्वपूर्ण घटक और प्रभावकारी साधन माना है। मन के सन्दर्भ में डीवी का दृष्टिकोण समष्टिवादी था। साधारणतया मन शब्द का प्रयोग उस अर्थ में होता है कि जिसमें वह बिना किसी भेद के सम्पूर्ण चेतना को अपने अन्तर्गत करता है। इस आधार पर डीवी यह स्वीकार करते हैं कि मन और मानस शब्द विशेष कर हमारी प्रकृति के उस उपभाग को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं जिसका सम्बन्ध है- अनुभव और बोध से विचारों से, मनस प्रत्यक्षों या विचारात्मक प्रत्यक्षों से, पदार्थ के प्रति विचार की प्रतिक्रिया से, सच्ची मानस क्रियाओं और रचनाओं से, मानस अन्तर्दर्शन और इच्छा आदि से जो बुद्धि के कार्य है।

डीवी मन को अपनी समस्याओं को हल करने का सबसे अच्छा कारक मानते हुए कहते हैं कि मन कोई जन्मजात शक्ति नहीं है, यह ईश्वरीय अंश नहीं है बल्कि यह विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, जो आवश्यकता के अनुरूप स्वतः विकसित होता रहता है। जन्म के समय प्राणी का मस्तिष्क पूर्णतया शून्य होता है ज्यों-ज्यों जीवन की सामान्य दैनिक क्रियाकलापों को पूर्ण करना होता है, त्यों-त्यों मन का विकास होता जाता है।

डीवी महोदय के अनुसार, मन उन मानवीय क्रियाओं का परिणाम है जो जीवन की अनेकानेक समस्याओं को हल करने हेतु प्रयुक्त की जाती है। मन अपने विचार, भाव तथा क्रिया पक्षों से जीवन की समस्याओं को हल करता है। शिक्षा मन को कार्य करने का अवसर प्रदान कर, मन के कार्य क्षेत्र को विस्तृत करने में सहायक होती है। इसी मन रूपी साधन के कारण ही मानव अन्य जीवधारियों से श्रेष्ठ माना जाता है।

जॉन डीवी की मान्यता है कि, 'मन की उपयोगिता एकान्त या अकेले में न होकर समाज में ही रहती है। अतः व्यैक्तिक मन की अपेक्षा सामाजिक मन अधिक महत्वपूर्ण होता है, जिसके द्वारा सामाजिक-समस्याओं का निराकरण होता है।[७] उनका मानना है कि वैय्यक्तिक मन परिवेश के अभाव में अविकसित ही रह जाता है, जबकि सामूहिक मन परिवेश की उपलब्धता के आधार पर पूर्ण विकसित होने का अवसर प्राप्त कर लेता है। इसी कारण डीवी ने सामाजिक मन को विशेष महत्व दिया है।[८]

डीवी के अनुसार मन की उपज ज्ञान और विचार है जो मानव को अपने वातावरण के साथ अनुकूलन एवं उसके नियंत्रण की प्रक्रिया से प्राप्त होते हैं। यह प्रक्रिया दुखों को दूर करने तथा संतुष्टि एवं आनन्द को प्राप्त करने हेतु निमित्त होती है। डीवी के विचार से मन का विकास स्वतंत्रता के वातावरण में किया जाना चाहिये। मन को जन्म से प्रत्यक्षीकरण, स्मरण, क्रिया, निर्णय, सूक्ष्मीकरण तथा अवधान आदि शक्तियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार कहा जाता है कि शरीर की संरचना को दिशा प्रदान करने तथा नियंत्रण करने का पूर्ण अधिकार मन ने ही सम्भाला है। मानव शरीर एक वाहन के रूप में और उसमें विद्यमान मन पूर्ण तथा नियंत्रक सवार का कार्य करता है।

वस्तुतः शरीर जिस केन्द्र के निर्देश पर अपनी गतिविधियाँ करता है, उसका पूर्णरूपेण संचालक मस्तिष्क है। अतः मन को उसके उत्कर्ष हेतु सुअवसर मिलना चाहिये।

चिन्तन सम्बन्धी विचार

''चेतना विकास के मनोवैज्ञानिकों का निष्कर्ष है कि चेतना पत्थर में सोती है, वनस्पतियों में स्थिर रहती है, पशु में चलती रहती है और मनुष्य में चिन्तन करती है। अतः मनुष्यता का प्रथम लक्षण चिन्तन करना होना चाहिये।''[९]

सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये मानव को अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वर्तमान सम-सामयिक परिस्थितियों पर चिन्तन करते हुए उसके अनुकूल रूपरेखा बना कर क्रियान्वयन करना चाहिए। इस दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक और प्राकृतिक वातावरण को अनुकूल बनाने के लिये चिन्तन एक महत्वपूर्ण साधन होता है।

'सभी प्रकार का चिन्तन एक प्रकार का प्रयोग है।'[१०] सामान्यतया यह माना जाता है कि चिन्तन एकान्त का विषय है किन्तु इस प्रकार का चिन्तन और मनन एकान्त में संभव नहीं है।

अतः चिन्तन प्रक्रिया सम्बन्धी डीवी पर विचार आदर्शवादी दार्शनिकों से भिन्न है। जहाँ आदर्शवादी चिन्तन के लिए एकान्त वातावरण को उपयुक्त मानते हैं, वहीं डीवी इसके लिए सामाजिक एवं बाधायुक्त परिस्थितियों को इसका प्रेरक मानते हैं। इस संदर्भ में डीवी की धारणा है कि यदि व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रियायें सरलता, सहजता और आसानी से सम्पन्न हो जाती है तो उसके लिये किसी भी प्रकार कि चिन्तन की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत जब व्यक्ति किसी क्रिया को करता है और उसके क्रिया मार्ग में विभिन्न प्रकार की बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं तो वह इन्हीं बाधाओं से छुटकारा पाने के लिये चिन्तन करता है, सोचता है, जो कि स्वाभाविक है। चिंतन का प्रारम्भ सदैव कठिनाई से ही होता है। इस प्रकार चिन्तन शून्य में नहीं हो सकता, चिन्तन केवल कोरा मनन करने से ही पूर्ण नहीं होता हैं। डीवी ने कोरे चिन्तन को अपने व्यवहार में आने वाले चिन्तन से अलग रखकर 'रचनात्मक चिन्तन' को महत्व दिया है।

डीवी के अनुसार 'चिन्तन सामाजिक एवं प्राकृतिक वातावरण से अनुकूल हेतु व्यक्ति द्वारा प्रयोग किये जाने वाला एक साधन है। उसने चिन्तन को क्रियाशीलता का एक कार्य कहा है, जो समस्या बाधा या कठिनाई की प्रेरणा में उत्पन्न होता है।'

डीवी महोदय चिन्तन को क्रिया का स्वरूप मानते हुए कहते हैं 'कोई प्रश्न जिसका उत्तर मिलना चाहिये अथवा कोई गुत्थी जो सुलझनी चाहिये, हमें सोचने में जुटा देते हैं और हमारी विचारधारा एक सुनिश्चित दिशा में बहने लगती है। प्रत्येक निष्कर्ष जो हम इस प्रकार निकालते हैं उसकी इसी हल के संदर्भ में परीक्षा होती है कि वह किस सीमा तक हमारी वर्तमान समस्या से सामंजस्य रखता है।[११]

डीवी के अनुसार चिन्तन या सोचने की प्रक्रिया के ५ तर्कपूर्ण स्तर या पद होते हैं :

१. किसी समस्या, कठिनाई या बाधा की अनुभूति।
२. समस्या के कारणों को जानने के लिये सम्पूर्ण वस्तु स्थिति का विश्लेषण।
३. समस्या के समाधान हेतु व्यावहारिक साधनों की खोज।
४. समस्त सम्भव साधनों की उपयुक्तता का परीक्षण एवं सर्वोत्तम साधन का प्रयोग।
५. समाधानों को स्वीकार या अस्वीकार करने के लिये पुनः निरीक्षण एवं प्रयोग में लाना।

डीवी महोदय का मानना है कि पहले हम कार्य करना आरम्भ करते हैं और इसी बीच हमारे समक्ष कुछ समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं तो उनकी पूर्ति हेतु अथवा समाधान के लिये हम उस स्थल के आगे पीछे के स्तर के आधार पर एक धारणा निश्चित क लेते हैं। तत्पश्चात् धारणा की पुष्टि हेतु प्रमाण एकत्रित करते हैं। जब इन प्रमाणों का हम परीक्षण कर लेते हैं तो एक निश्चित विचार स्वीकृत हो जाता है, यही स्तर रचनात्मक चिन्तन को प्रमाणित करता है।

इस प्रकार डीवी का मानना है कि ज्ञान केवल ज्ञान के लिये ही नहीं होता बल्कि उस ज्ञान से व्यावहारिक जीवन को लाभान्वित होना चाहिये। व्यावहारिक जीवन से अलग अथवा समाज से बाहर रह कर एकान्त में वास्तविक चिन्तन नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा चिन्तन समाज की वास्तविक एवं विशिष्ट परिस्थतियों के संदर्भ में पूर्णतया सार्थक नहीं होता है। अतः समस्यात्मक परिस्थितियों को निर्मित करना आवश्यक है। सामान्यतः व्यक्ति को अपने जीवन के उत्कृष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किसी न किसी बाधा का सामना करना पड़ता है। जिनके समाधान हेतु व्यक्ति अनेकों प्रयत्न करता है। ये प्रयत्न ही चिन्तन से प्राप्त होते हैं, इस प्रकार चिन्तन प्रयत्न का क्रियात्मक पक्ष है। अतः डीवी महोदय ने चिन्तन को समस्या आधारित मानते हुए चिन्तन परिणामों की अपेक्षा उसकी प्रक्रिया को अधिक महत्व देते हुए ज्ञानार्जन हेतु प्रयोगात्मक विधि पर बल दिया है। इसके साथ ही बालक को जो शिक्षा प्रदान की जाये वह मानसिक क्रियाओं की इन्हीं सामान्य दशाओं के अनुसार होनी चाहिये। यह सिद्धान्त योजना विधि, समस्या विधि और क्रियात्मक कार्यक्रमों की जड़ में निहित है।[१२]

ज्ञान सम्बन्धी विचार[१३]

ज्ञान से व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिमार्जन होता है, उसकी विचार शक्ति तीव्र होती है, अच्छे बुरे के बारे में निर्णय लेने की क्षमता प्राप्त होती है। जॉन डीवी के जीवन-दर्शन में ज्ञान सम्बन्धी विचारों का उल्लेख करते हुए डॉ० प्रसाद एवं गुप्त ने लिखा है, ''वास्तविक ज्ञान वही है जो हमारे संस्कारों में संगठित है और अपने उद्देश्यों तथा इच्छाओं को उस परिस्थिति के अनुकूल बनाते हैं, जिसमें हम रहते हैं, परन्तु ज्ञान गुण प्राप्त करने के लिये जिस वस्तु की प्रथम एवं प्रमुख आवश्यकता है वह है क्रिया। क्रिया ज्ञान की आधारशिला है, क्रिया के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति सर्वथा अधूरी और दोषपूर्ण रहती है।''[१४] अतः डीवी शिक्षण विधि के रूप में प्रयोग-प्रणाली को विशेष रूप से उपयोगी मानते हैं।

डीवी के अनुसार ज्ञान क्रिया का मार्गदर्शक नहीं अपितु क्रिया का परिणाम होता है। आदर्शवादी विचारधारा के विरूद्ध डीवी महोदय का मानना है कि ज्ञान क्रिया के बाद होता है और क्रिया अनुभव के बाद होती है। अर्थात् ज्ञान

से पहले अनुभव की आवश्यकता है और अनुभव क्रिया पर आधारित है। अतः ज्ञान क्रियाओं का वह सार या परिणाम है, क्रमिक है और जीवन से सम्बन्धित है। इस प्रकार अनुभव-क्रिया-ज्ञान यह चक्र होता है, एक क्रम होता है। इससे परे कोई अस्तित्व नहीं होता है। प्रत्येक प्राणी या मानव वातावरण से अनुभव प्राप्त करता है, अनुभवों के फलस्वरूप वह प्रयोग या क्रिया करता है और उस क्रिया का जो प्रतिफल होता है उसे ही ज्ञान कहा जाता है।

डीवी का मानना है कि ज्ञान और अनुभव दोनों एक ही है क्योंकि अनुभव या क्रिया द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान द्वारा अनुभव। संचित अनुभव का ही दूसरा नाम ज्ञान है। उनके अनुसार यदि ज्ञान और अनुभव किसी प्रयोजन से सम्बन्धित नहीं होते तो वे निरर्थक एवं अनुपयोगी होते हैं। अतः किसी बात का अनुभव अर्जित करना है तो उसके प्रयोजन को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये तभी वह ज्ञान या अनुभव हमारे लिये सार्थक या उपयोगी हो सकता है।

डीवी महोदय ज्ञान को परिभाषित करते हुए कहते है कि, 'अपने वातावरण से सम्बन्धित आवश्यकताओं, उद्देश्यों और इच्छाओं की पूर्ति के प्रयोजन से व्यक्ति अपने स्वभाव में जो सुसंगठन स्थापित करता है, वही ज्ञान है।'[१५]

डीवी का विश्वास है कि हम पहले कार्य करते हैं, इसके बाद ही ज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों हमारा अनुभव बढ़ता है, हमारे ज्ञान के स्रोत भी बढ़ते जाते हैं। यह ज्ञान केवल व्यक्तिगत सामग्री नहीं होती अपितु सामाजिक संगठन पर निर्भर करता है।

"Knowledge is not merely an individual matter but depends on social organization."[16]

इस प्रकार डीवी ने स्वानुभव पर विशेष बल दिया है। सामाजिक परिवेश और अपने चारों ओर की वस्तुओं के सम्पर्क में आकर मानव अनुभवों को प्राप्त करता है, वही सत्य है, सच्चा ज्ञान है और यही अनुभव व्यक्ति के आचरण में परिवर्तन उत्पन्न करता है।

डीवी के अनुसार सामाजिक समायोजन एवं विभिन्न समस्याओं के हल हेतु ज्ञान की आवश्यकता होती है। मूकदर्शक रहकर व्यक्ति ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सकता बल्कि उसे वातावरण के प्रति उत्तेजित होकर क्रिया करनी पड़ती है, जिससे उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। वे ज्ञान को साधन के रूप में देखते हैं जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों, प्रेरणाओं और रूचियों तथा आवश्यकताओं से भी होता है। व्यक्ति अपने अस्तित्व की रक्षा हेतु भूख, प्यास, रहन-सहन आदि सम्बन्धी विविध कठिनाइयों से लड़ने लगता है। मूल प्रवृत्यात्मक सामाजिक और भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक समस्याओं का सामना करता है। इस संघर्ष की उत्तेजना से वातावरण में कुछ ज्ञान प्राप्त किया करता है। इन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप ही उत्तेजना प्रतिक्रिया से उसका बौद्धिक विकास होता है। इसी ज्ञान के आधार पर नवीन वस्तुओं की खोज करता है और सामाजिक विकास में सहायक होता है। अतः डीवी का विचार है कि इन प्रवृत्तियों के स्वाभाविक अभिव्यक्तिकरण को ही हमें बालक की शिक्षा का प्रारम्भिक बिन्दु समझना चाहिये।

डीवी महोदय की धारणानुसार यदि ज्ञान में अभिवृद्धि करनी है, तो बालक को क्रियाओं के साथ-साथ कार्य से सम्बद्ध किया जाना चाहिये, क्योंकि क्रियाओं के अभाव में ज्ञान के स्वरूप के विकृत होने की सम्भावना रहती है, जब कि क्रिया द्वारा उत्पन्न ज्ञान विशुद्ध और पूर्ण होता है।

अतः डीवी ने शिक्षण विधि के रूप में शब्दिक या मौखिक ज्ञान की अपेक्षा अनुभव व प्रयोगात्मक प्रणाली को आवश्यक व श्रेष्ठ माना है क्योंकि इसके द्वारा बालक कार्य करता हुआ विविध तथ्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट वास्तविक और सही जानकारी प्राप्त करता है जबकि क्रियाओं के अभाव में प्राप्त की गई जानकारी अपूर्ण भ्रामक और वास्तविकता से परे होती है। डीवी के अनुसार प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति ही वास्तविक यथार्थ ज्ञान को प्राप्त कर सकता है, साथ ही उसका दैनिक जीवन में सही ढंग से उपयोग कर सकता है।

उपरोक्त अवधारणा पर ही डीवी महोदय की मान्यता है कि विद्यालयों में पाठ्यक्रम सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक होना चाहिये और उनकी पहली कसौटी क्रिया प्रधान पाठ्यक्रम होना चाहिये, जिससे बालक वास्तविक और सही जानकारी प्राप्त कर सके।

जॉन डीवी ने पुरानी मान्यताओं का खण्डन करते हुए समाज को ही दर्शन के मूल स्थान के रूप में, उद्गम स्थल के रूप में स्वीकृत किया है। डीवी महोदय का कथन है, सामाजिक निर्वासन और जड़ता जिनके कारण जातियों, वर्गों और मनुष्यों में भेद बढ़ता है, जीवन के महान शत्रु हैं। दर्शन वही सार्थक में, जिससे समाज की मांगे पूरी हों।

दर्शन चिन्तन का सार है जो जीवन की विभिन्न सामाजिक एवं व्यावहारिक समस्याओं एवं जटिलताओं को हल करता है। वैसे ही वह उसका समाधान करने हेतु क्रियाशील हो जाता है। उसके द्वारा खोजे गये समाधान ही अपने सामान्य अर्थ में दर्शन कहलाते है। डीवी महोदय की धारणा है कि दर्शन कोई ऐसा शास्त्र नहीं है जो पूर्व निर्धारित सत्यों की प्रकृति पर निर्भर करता है बल्कि यह एक ऐसा विषय है जो कि नवीन जीवन का निर्माण करता है। दर्शन की प्रकृति के कारण ही उसमें समाज की समस्यायें प्रतिबिम्बित होती है।

वस्तुतः दर्शन शब्द की उत्पत्ति 'दृश' धातु से हुई है जिसका अर्थ है देखना। इस प्रकार दर्शन एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिससे सत्य के दर्शन किये जाते है वास्तविकताओं का पता लगाया जाता है। दर्शन के विषय में कहा जाता है दृश्यते अनेन् इति दर्शनम् अर्थात् दर्शन वह है जिससे सत्य के दर्शन हों किन्तु डीवी के अनुसार सत्य पूर्व निर्धारित नहीं होता, वरन् सामाजिक संदर्भों एवं तत्कालीन परिस्थितियों में सत्य के स्वरूप का प्रतिपादन दर्शन द्वारा किया जाता है। अतः दर्शन का स्रोत समाज होता है न कि व्यक्ति की पूर्व धारणा।

''शिक्षा दर्शन के बने बनाए विचारों का मूलतः भिन्न उद्गम एवं प्रयोजनवादी व्यावहारिक पद्धति में बाहरी प्रयोग नहीं है। वह तो समकालीन जीवन की कठिनाइयों से सम्बन्धित उचित मानसिक तथा नैतिक आदतों के निर्माण की प्रकट व्याख्या है।[१७] इससे स्पष्ट है कि शिक्षा के व्यवहार में दर्शन की उत्पत्ति होती है। डीवी किसी ऐसे तथ्य विचार अथवा सिद्धान्त को दर्शन नहीं मानते है, जिसका समाज के निर्मण में कोई योगदान न हो। अपितु डीवी के अनुसार दर्शन एक ऐसा विषय है जो समाज की विभिन्न समस्यायों का समाधान करने के लिए उत्सर्जित होता है। अतः ऐसे दर्शन की कल्पना करना सर्वथा स्वरूप अनुपयुक्त है जो किसी अदृश्य सत्ता जैसे किसी यथार्थ स्वरूप की जांच करता हो। यही नहीं सामाजिक परिस्थितियों स्वरूप और दशायें जैसी होती है, वहाँ के लोगों के विचार और दृष्टिकोण भी वैसे ही विकसित होते जाते हैं अतः डीवी की धारणा है समाज ही दर्शन का उद्गम स्थल होता है।

डीवी के विचार से सामाजिक संरचना में जनतंत्र, उद्योग तथा विज्ञान नामक शक्तियों का समुचित सहयोग रहता है और ये शक्तियाँ अच्छे से अच्छे ढंग के सामाजिक विकास हेतु नित नई-नई चीजें ढूंढा करती हैं जिस सामाजिक संघर्ष कहते हैं। हर चिन्तन एक नवीन प्रकार के दार्शनिक चिन्तन को जन्म देता है। अतः उसमें दर्शन का मूल स्थान समाज को ही स्वीकृत किया है क्योंकि समाज से परे चिन्तन का कोई अर्थ नहीं है।

डीवी प्रत्येक व्यक्ति को सामाजिक संदर्भ में देखना चाहते थे न कि समाज से विरक्त उसका व्यक्तित्व। डीवी के अनुसार व्यक्ति और वातावरण समस्त क्रिया के कारण होते हैं। व्यक्ति समाज में रहता है और उसका विकास वहीं होता है। सामाजिक वातावरण सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यक्ति की क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जीवन आगे बढ़ता है। डीवी व्यक्तिवादी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। व्यक्ति अपने वातावरण तथा जीवन के घात-प्रतिघात से दर्शन को जन्म देता है जिस पर सामाजिक जनतांत्रिक छाप होती है।

महान विचारक जॉनसन ने डीवी के सम्बन्ध में कहा है कि ''सभी समस्याओं पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तरीकों को अपनाने में उनके जोरदार समर्थन का इस महाद्वीप और दूसरे महाद्वीप पर भी विकास की ओर बढ़ने की प्रक्रिया में योगदान है।'

डीवी महोदय एक नियमित वैज्ञानिक दृष्टिकोण में विश्वास करते हुए मानव समाज से सम्बन्धित समस्याओं के निराकरण के प्रयास में अनियमित एवं परम्परागत तरीकों का घोर विरोध हुए उन लोगों से भी असहमति व्यक्त करते हैं जो चिन्तन के सम्बन्ध में अवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते है। इस प्रकार वे समाज को दर्शन से पृथक न मानते हुए, समाज में उठी समस्याओं, अनियमितताओं को समाज-दर्शन के माध्यम से वैज्ञानिक दृष्टिकोण द्वारा हल करने के पक्षधर हैं। उनके विचारानुसार दर्शन का लक्ष्य व्यावहारिक होना चाहिये तथा व्यवहार का क्षेत्र आध्यात्मिक या सूक्ष्म न होकर

भौतिक एवं सामाजिक ही होना चाहिये। सामाजिक वातावरण में ही जीवन की समस्याओं को हल करने के फलस्वरूप ही दर्शन की उत्पत्ति होती है। वातावरण की प्रधानता को स्वीकार करते हुए डीवी ने कहा कि, ''जीवन वातावरण से प्राप्त एक प्रक्रिया है।''[१८]

इस प्रकार दर्शन का उद्देश्य लोगों के विचारों को स्पष्ट बनाना है। दर्शन द्वारा नवीन तरीकों का निर्माण होता, जिसके फलस्वरूप क्रिया सम्बन्धी अशुद्धियाँ ठीक होती हैं। वास्तव में व्यक्ति अपनी अशुद्धियों से सीखता है, आगे बढ़ता है और अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बनाता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में सीखने, आगे बढ़ने की क्रिया स्वाभाविक होती है और वह इस प्रकार पूर्णता प्राप्ति का प्रयत्न क्रियाओं के द्वारा करता है। अतः डीवी के विचार में दर्शन वही है जो जीवन की समस्याओं को हल करके, उसे पुनर्निर्मित करने में अपना योगदान दे।[१९]

वैज्ञानिक ज्ञान सम्बन्धी विचार

दर्शन के लक्ष्य को व्यावहारिक रूप प्रदान करते हुए जॉन डीवी महोदय ने जनतंत्र, उद्योग और विज्ञान के विकास से सम्बन्धित दार्शनिक विचारों को व्यक्त किया। डीवी के अनुसार व्यवहार का क्षेत्र भौतिक एवं सामाजिक हो सकता है। अतः उन्होंने दर्शन के अध्ययन हेतु समाज (जनतंत्र) को प्रमुखता दी। उनके अनुसार, 'सामाजिक वातावरण में जीवन की समस्याओं का हल होता है जिसके फलस्वरूप दर्शन की उत्पत्ति होती है। दर्शन वही है जो जीवन की समस्याओं को हल करके उसका पुनर्निर्माण करे।'[२०]

जॉन डीवी का मानना है कि जनतंत्र के विकास एवं कल्याण हेतु विज्ञान को इस योग्य बनाया जाये कि मानव बदले हुए समाज में अनुकूलन स्थापित कर सके तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए सामाजिक पर्यावरण पर नियंत्रण रख सके एवं अपनी आवश्यकतानुसार उसमें समय-समय पर परिवर्तन कर सके।

मनुष्य यह भी नहीं जानता कि उसे सामाजिक पर्यावरण में किसी सीमा तक अनुकूलन करना है अपनी किन आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यह सब भी विज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। बिना वैज्ञानिक दर्शन एवं ज्ञान के वह एक कदम भी उचित मार्ग पर नहीं चल सकता। डीवी के विचार से बालकों को दिया जाने वाला ज्ञान यदि विज्ञान के द्वारा व्यावहारिक रूप में क्रियाओं के माध्यम से सिखाया जाए तो वह ज्ञान अविस्मरणीय एवं स्थाई होगा। बालकों को दिये जाने वाले ज्ञान को बालक के वास्तविक जीवन से, उसका सम्बन्ध जोड़ देना चाहिए। वैज्ञानिक ज्ञान के प्रयोग के आधार पर डीवी ने ''प्रयोगशाला विद्यालय'' की स्थापना कर शिक्षा के क्षेत्र में नवीन क्रांति लाकर जनतंत्र को एक नई दिशा प्रदान की जिसका समाज हमेशा ऋणी रहेगा।[२१]

धर्म सम्बन्धी विचार[२२]

जॉन डीवी का धार्मिक दर्शन एक अनोखे मत का समर्थन करता है। वह धर्म में कोई आस्था नहीं रखते थे क्योंकि उनका विचार है कि धर्म की विभिन्नताएँ यह प्रदर्शित करती है कि धर्म जैसी कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यदि धर्म के क्षेत्र में विभिन्न सम्प्रदायों के कारण हम धर्म के अस्तित्व से ही इन्कार कर दें तो हम एक बड़ी गलती कर बैठेंगे। जिस प्रकार एक ही विचार अनेक भाषाओं और एक ही भाषा में विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्त कर सकते हैं। उसी प्रकार धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में बाह्य भिन्नताओं के बावजूद प्रकट होता है। इस प्रकार हम धर्म के क्षेत्र में भिन्नताओं में एकता के दर्शन करते हैं।

जॉन डीवी की धार्मिक विचारधारा से प्रतीत होती है वे धर्म में अनास्था जरूर प्रकट करते हैं किन्तु उसका कोई ठोस कारण प्रस्तुत नहीं करते अर्थात् धर्म के प्रति जॉन डीवी उदासीन भी नहीं है। जॉन डीवी ने धर्म को उसके विकासात्मक पक्ष में समझने का प्रयास किया है। धार्मिक आस्था को जॉन डीवी ने व्यक्ति के ऐसे विस्तृत आदर्श के प्रति विश्वास के अर्थ में लिया है, जिसे यह अपनी कल्पना के माध्यम से प्रस्तुत करता है। उनके अनुसार धर्म अपने प्रारम्भिक रूप से व्यक्ति के आश्रय के लिये निर्मित हुआ था। व्यक्ति को सहारा चाहिये था और यह सहारा उसे धर्म में मिला

किन्तु वर्तमान समय में यह सहारा अब व्यक्ति को व्यावहारिक कलायें दे सकता है। अतः धर्म एक अनावश्यक वस्तु बन गया। यह मात्र डीवी की कल्पनाजन्य बातें हैं। इसमें वास्तविकता के तथ्यों को जरा भी दर्शन नहीं है क्योंकि धर्म प्राचीन समय से ही मानव समाज में हमेशा किसी ने किसी रूप में विद्यमान रहा है।

डीवी के अनुसार पहले धर्म था फिर विज्ञान के जन्मोपरान्त विज्ञान ने धर्म का स्थान ले लिया, कोरी कल्पना मात्र है। धर्म एक पवित्र भावना है जो प्राचीन काल से ही मनुष्य के मन में बसा है। मनुष्य परम सत्य के लिये आरम्भ से ही व्याकुल रहा है। उसे परम सत्य के बिना अपने अस्तित्व में एक खालीपन का अहसास होता है। धर्म में जॉन डीवी अनास्था प्रकट करते हुए उसे अनावश्यक मानते हुए शिक्षा में स्थान देने के पक्षधर नहीं है। डीवी के अनुसार उसमें अनेकों विभिन्नतायें है और विभिन्नताएँ ऐसा एक धर्म या विचार नहीं देते जिसे सर्वमान्य कहा जा सके एवं शिक्षा में स्थान दिया जा सके। यद्यपि धर्म में अनेकों विभिन्नताऐं हैं परन्तु सभी धर्मों में कुछ मूलभूत समानतायें भी होती है। इन समानताओं के आधार पर धर्म को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाना चाहिये। यदि हम मूलभूत एवं रचनात्मक धार्मिक विचारधारा को शिक्षा में स्थान दें, तो व्यक्ति को उसकी स्वार्थपरता से उपर उठाया जा सकता है तथा मानवता के भाव को उसके हृदय में प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

डीवी ने धर्म एवं धार्मिक में विभेद किया है। उसके अनुसार धर्म वह है जो समय-समय पर विभिन्न ग्रंथों, विभिन्न देशों में विभिन्न उपदेशों द्वारा प्रचारित हुआ जबकि धार्मिक एक अनुभव की विशेषता एवं गुणवत्ता है जो नैतिक राजनैतिक, वैज्ञानिक अनुभवों को रंग देती है एवं जीवन के व्यवहार में परिलक्षित होती है। धार्मिक अनुभव की वह विशेषता है जिसके सभी सहयोगी हो सकते हैं। जिन्हें एक आदर्श उद्देश्य मानव महिमा एवं प्रयास में विश्वास है। जॉन डीवी में विशेष आस्था नहीं रखते परन्तु इसे पूर्णतया नकारते भी नहीं है। वे इसके बीच के मार्ग को अपनाते हैं। जो वैज्ञानिक ढंग से सही है उसे स्वीकार करने के पक्ष में है। धर्म से अंधविश्वास एवं परम्परागत विचारों को वे मानने के पक्षधर नहीं है। जॉन डीवी धर्म के उन विचारों, उन तथ्यों के समर्थक है जो मानव समाज के लिये लाभदायक एवं उपयोगी है।

अनुभव सम्बन्धी विचार

डीवी महोदय का विचार है कि, ''अनुभव कोई अमूर्त वस्तु नहीं है, बल्कि उसका सम्बन्ध हमारे जीवन की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं दुःख, दर्द, पीड़ा एवं वेदना से है। डीवी के अनुसार, 'जीव एवं वातावरण की अन्योन्य क्रिया के परिणाम स्वरूप जो वस्तु उत्पन्न होती है उसे अनुभव कहते हैं।'[२३] यदि हम किसी वस्तु का वर्णन करना चाहते हैं तो हमें कहना होगा कि हमें उस वस्तु की कैसी अनुभूति हो रही है।

अनुभव के स्वभाव का वर्णन करते हुए जॉन डीवी महोदय लिखते है कि, 'अनुभाविक दृष्टि से वस्तुएँ मर्मस्पर्शी, कारूणिक, सुन्दर, हास्यकर, स्थिर, अशान्त, सुखद, कष्टकर वन्ध्या, निष्ठुर, सांत्वनाप्रद, भव्य एवं भयंकर होती है। ऐसा उनका आंतरिक स्वभाव होता है।'[२४] जिस प्रकार वस्तुओं के भीतर रूप, रंग, स्पर्ष, शब्द, घ्राण तथा स्वाद के वस्तुगत गुण पाये जाते हैं उसी प्रकार भीतर उपर्युक्त गुण पाये जाते हैं।

डीवी का मानना है कि अनुभव एक दृष्टि से एकान्तिक एवं अपवर्णक होता है। डीवी के शब्दों में ''यदि अव्यवहित अनुभव में कहने की क्षमता होती है तो यह घोषित करता कि मेरे सम्बन्धी हो सकते है पर मैं सम्बन्धित नहीं हूँ।''[२५]

इस प्रकार संसार में जितनी भी वस्तुयें है उनका अपना आन्तरिक स्वभाव है और आन्तरिक स्वभाव होते हुए भी वे संसार की अन्य वस्तुओं के साथ परस्पर सम्बद्ध होती है। डीवी के अनुसार अनुभव किसी परिस्थिति का अविमर्शात्मक बोध है। सम्वेदना होना भी अनुभव का बौद्धिक विमर्श है। मानव के समक्ष समस्यायें उत्पन्न होती रहती है। मानव अपने अनुभव के अनुसार समस्याओं का समाधान करता है और भावी जीवन के पथ पर अग्रसारित होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

[१]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ६२

[२]वही, पृष्ठ संख्या ५७-५८

[३]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ५८-५९

[४]पाठक एवं त्यागी –*शिक्षा के सामान्य सिद्धान्त,* विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ संख्या २४५

[५]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ५८-५९

[६]वही, पृष्ठ संख्या ५३

[७]सिंह, डॉ० ओ०पी० –*शिक्षा दर्शन एवं शिक्षाशास्त्री,* शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या १२९

[८]वही, पृष्ठ संख्या ५४

[९]*प्रतियोगिता दर्पण* (सम्पादकीय) वर्ष १९९८, पृष्ठ संख्या ९

[१०]पाल, डॉ० एस०के० –*शिक्षा-दर्शन,* कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ११६

[११]चौबे, डॉ० एस०पी० –*भारत और पश्चिम के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री*, भवदीय प्रकाशन, अयोध्या, फैजाबाद, पृष्ठ संख्या २९२

[१२]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ५९-६२

[१३]वही

[१४]प्रसाद, डॉ० डी०एन० एवं गुप्त –*हमारी माध्यमिक शिक्षा इसके सिद्धान्त व समस्यायें,* कला निकेतन, पटना, पृष्ठ संख्या ५२-५३

[15]DEWEY JOHN; *Democracy and Education*, Mac Millan and Company, 1916, Page No. 400

[१६]त्रिपाठी, डॉ० लाल जी, श्रीवास्तव, डॉ० ओम नारायण और दुबे, डॉ० सुनीता –*शैक्षिक विचार एवं व्यवहार के आधार,* मिश्रा ट्रेडिंग कारपोरेशन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या १०९

[१७]पाल, डॉ० एस०के० –*शिक्षा-दर्शन,* कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या १३१

[१८]दुबे, डॉ० रमाकान्त –*विश्व के महान शिक्षाशास्त्री,* मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, पृष्ठ संख्या १४५

[१९]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ६४-६५

[२०]पाल, डॉ० एस०के० एण्ड गुप्त एल०एन० –*शिक्षा-दर्शन,* कैलाश प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या ६३

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ६८

[२२]*जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका २१वीं सदी की शिक्षा पर प्रभाव* –श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, शोध प्रबंध, पृष्ठ संख्या ६६-६७

[२३]श्रीवास्तव, डॉ० जगदीश सहाय –*पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ,* अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ संख्या २८९

[24]DEWEY JOHN; *Experience & Nature*, Page No. 96

[२५]तदैव, पृष्ठ संख्या ९६

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,33-39**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 02 जनवरी 2018

समाज, ज्ञान सामाजिक अध्ययन से सामाजिक विज्ञान तक

पाल सिंह*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *समाज, ज्ञान सामाजिक अध्ययन से सामाजिक विज्ञान तक* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र का लेखक मैं *पाल सिंह* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैंने शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

समाज

समाज से अभिप्राय है मानव सभ्यता जो पृथ्वी के किसी विशेष भू–भाग पर निवास करता है और उसका अपना सांस्कृतिक व मानवीय संसारिक ढांचा है जिसके अनुरूप वह अपनी भाषा संस्कृति, रीति रिवाजों का आदान–प्रदान करता है और आने वाली पीढ़ियों हेतु मार्गदर्शन करता है अथवा उनका पथ–पर्दशन करता है। मनुष्य उसी समाज व परिवेश में जन्म लेता है बोलना, खेलना इत्यादि सिखता है, जिसमें मनुष्य का जन्म व विकास होता है उसी के अनुसार विकसित होता है। ''समाज मनुष्यों का समूह है जो दिन–प्रतिदिन के काम के लिए एक–दूसरे पर आश्रित है। बेचारे बच्चे अपने आपको जीवित नहीं रख सकते। उनकी देखभाल उनके माता–पिता करते हैं। विद्यार्थी अपने अध्यापकों की सेवाओं को उपयोग में लाते हैं। वैद्य लोगों द्वारा रोगियों को औषधि दी जाती है। इसलिए यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने सांझी प्राप्तियों के लिए एक–दूसरे की सहायता करते हैं।''[१] यह कहा जा सकता है कि समाज व्यक्तियों का समूह है जिनके लक्ष्य और उद्देश्य सांझे है और जो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मिलकर यत्न करते हैं।

ज्ञान

ज्ञान से अभिप्राय है समझ अथवा सूख, ज्ञान मूल रूप से अग्रेजी के knowledge शब्द का हिन्दी पर्याय शब्द है। ज्ञान का विस्तृत अर्थ है किसी वस्तु, पक्ष, तथ्य इत्यादि की आन्तिरिक व सूक्ष्म रूप से समझ व जानकारी होना। जैसे सामाजिक शिक्षण की विशेषतायें, कमियाँ व महत्व की समझ को सामाजिक शिक्षण का ज्ञान कहा जायेगा। इसके अलावा किसी भी घटना, समाज, व्यक्ति, कार्य इत्यादि के विषय

* सहायक प्राध्यापक, सामाजिक विज्ञान संकाय, क्रिसेन्ट शिक्षण महाविद्यालय (भोड़िया खेड़ा) फतेहाबाद (हरियाणा) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

में अगर हमें पता है व हम उस पर अपना नियन्त्रण व अधिकार कर सकते हैं या फिर उसके बारे में परिवर्तन व्याख्या कर सकते उसे ज्ञान कहा जाता है।

सामाजिक अध्ययन का अर्थ

सामाजिक अध्ययन, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट होता है, सामाजिक अध्ययन से तात्पर्य समाज के विषय में किए जाने वाले अध्ययन से है। समाज में हम सभी रहते हैं। कैसे रहते थे, कैसे रहते हैं तथा कैसे रहना चाहिए, इन्हीं बातों का अध्ययन प्राय: इस विषय के अंतर्गत किया जाता है। इस तरह मानव समाज के विकास और संगठन के वर्तमान, भूतकाल तथा भविष्य का इस विषय के साथ सीधा संबंध है। मनुष्य को सभी प्रकार से एक सामाजिक प्राणी माना जाता है और इस दृष्टि से वह समाज में विद्यमान विभिन्न समूहों या घटकों के प्रति उनका सदस्य होने के नाते यथासंभव अपना उत्तरदायित्व निभाने का प्रयत्न करता है। इस उत्तरदायित्व को वह किस प्रकार निभाए कि जिससे न केवल उसके उत्थान और आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त हो बल्कि उससे पूरे समाज को भी भलीभांति उन्नत और विकसित किया जा सके।

परिभाषायें

जॉन वी० मिकाईलिस —''सामाजिक अध्ययन मनुष्य तथा उसकी अपने सामाजिक एवं भौतिक वातावरण से अन्त–क्रिया के साथ संबंधित है, यह मानवीय संबंधों का अध्ययन करता है – सामाजिक अध्ययन का केन्द्रीय कार्य शिक्षा के केन्द्रीय लक्ष्य के अनुरूप है– अर्थात् लोकतन्त्रात्मक नागरिकता का विकास।''[२]

जोरोलिमिक – सामाजिक अध्ययन मानवीय संबंधों का अध्ययन है।

बेस्ले –''सामाजिक अध्ययन उस विषय–सामग्री की तरफ इंगित करता है, जिनके तथ्य तथा उद्देश्य प्रमुख रूप से सामाजिक होते हैं।''[३]

जेम्स हामिंग – ''सामाजिक अध्ययन ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सामाजिक सम्बन्धों तथा अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन है।''[४]

शैक्षणिक अनुसंधान विश्वकोष के अनुसार – ''सामाजिक अध्ययन वह है जो हर साल मानव के रहन–सहन के ढंग, उसकी आवश्यकताओं तथा उन्हें पूरा करने से संबंधित विभिन्न क्रियाकलापों और उसके द्वारा विकसित संस्थाओं के बारे में ज्ञान प्रदान करता है।''[५]

सामाजिक विज्ञान का अर्थ

सामाजिक विज्ञान अपने आप को स्वंय परिभाषित करता है सामाजिक विज्ञान से अभिप्राय है समाज का वैज्ञानिक स्तर पर ज्ञान अथवा जानकारी होना। सामाजिक विज्ञान समाज और विज्ञान दो शब्दों के मेल से बना है। समाज शब्द मानव सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता जबकि विज्ञान शब्द शैक्षणिक विषयों का प्रतिनिधित्व करता है।

सामाजिक विज्ञान द्वारा सामाजिक अध्ययन का स्थान लेना

सामाजिक विज्ञान ने सामाजिक अध्ययन (Social Studies) का स्थान ले लिया है परन्तु इसे भारतीय विद्यालयों में ठीक प्रकार से नहीं पढ़ाया जा रहा है। कदाचित इन दोनों विषयों में समानतायें और अन्तर भी है।

सामाजिक विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। १. यह इन विषयो से मिलकर बना है; (क.) इतिहास – अतीत का अध्ययन, (ख) नागरिकशास्त्र – सामाजिक प्राणी व अच्छे नागरिक के रूप में मानव, (ग.) भूगोल – भौतिक जगत् व वातावरण में मानव का अध्ययन, (घ.) अर्थशास्त्र– मानव की आर्थिक गतिविधियों का अध्ययन।

अत: सामाजिक विज्ञान उस मानव जीवन के लगभग सभी महत्वपूर्ण पहलुओं का अध्ययन करता है जो मानवता को निरंतर प्रगति पथ पर ले जाता है।

विद्यालयों में सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) कोई भी देश अपने इतिहास अथवा सामाजिक सांस्कृतिक ढांचे से अलग होकर प्रगति नहीं कर सकता। क्योंकि हम अपनी जड़ो से टूट गये तो फल फूल नहीं सकते अथवा प्रगति नहीं कर सकते। इसलिए विद्यालय स्तर पर विद्यार्थियों को सामाजिक विज्ञान पढ़ाना इसलिए आवश्यक है।

क. यह ज्ञानात्मक आधार प्रदान करता है।
ख. यह सांस्कृतिक कारणों से महत्वपूर्ण है।
ग. इसका मनोवैज्ञानिक आधार है।
घ. यह व्यावहारिक तथा व्यावसायिक तौर पर महत्वपूर्ण है।

सामाजिक विज्ञान में अन्य विषय

सामाजिक अध्ययन और सामाजिक विज्ञान ऐसा बहुपक्षीय विषय जिसमें, इतिहास भूगोल, चिकित्साशास्त्र शिक्षा शास्त्र इत्यादि कई विषया समाहित ''सामाजिक विज्ञान में अन्य कई विषय समाहित है और यह उन विधियों व तकनीकों का उपयोग भी करता है जो वांछित ज्ञान, अभिवृतियों व कौशलों की प्राप्ति के लिये आवश्यक है।''[६]

सामाजिक विज्ञानों की प्रायोगिक शाखा (Applied branch of social sciences) – ''सामाजिक अध्ययन सामाजिक विज्ञानों की प्रायोगिक शाखा है जिसे भावी नागरिकों में उचित अभिवृतियों और कौशलों को विकसित करने के विचार से विद्यालय के पाठ्यक्रम में रखा गया है। यह जीवन की कला से संबंधित है।''[७]

सामाजिक अध्ययन विद्यालयों में बोध लक्ष्य

इन लक्ष्यों में निम्नलिखित शामिल हैं :

१. बालक को उसके वातावरण की सूझ–बूझ प्रदान करना ताकि वह अपने सामाजिक एवं सांस्कृतिक वातावरण के साथ बेहतर ढंग से समायोजन कर सके।
२. बालक को परिवार, समुदाय, राज्य और राष्ट्र जैसे सामाजिक प्रत्यों को समझने में समर्थ बनाना।
३. बालक को अपने इर्द–गिर्द के संसार को समझने में समर्थ बनाना।
४. बालक को सामाजिक परिवर्तन के महत्व को समझने में समर्थ बनाना।
५. बालक को सामाजिक संस्थानों से परिचित कराना।

सामाजिक अध्ययन से सामाजिक विज्ञान तक

भारतीय विद्यालयों में सामाजिक अध्ययन के शिक्षण का प्रयोग सफल नहीं हो सका। मूल रूप में सामाजिक अध्ययन की अवधारणा ठोस मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित है ''क्योंकि इसका आधार सीखने का सम्बन्धीकरण का सिद्धान्त (Principle of Association) है। सामाजिक अध्ययन इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, नागरिकशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों का अभिन्न मिश्रण (Fusion) है।''[८] इन विषयों को इस प्रकार पढ़ाया जाना था कि इनकी स्वतंत्र पहचान समाप्त हो जाये और इनको अध्यापन एक–दूसरे से सह–सम्बन्ध के साथ नये विषय के रूप में कराया जाये। परन्तु भारतीय शिक्षागत ढांचे में ऐसा नहीं हो पाया।

सामाजिक विज्ञान तथा २१वीं सदी

वर्तमान समय में विद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले महत्वपूर्ण विषयों (Core Subjects) में से कुछ विषयों का पढ़ाया जाना बहुत आवश्यक माना जाने लगा है। ''इनमें कई ऐसे हैं जो मनुष्य के सामाजिक जीवन से संबंधित हैं। सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) भी उनमें से एक है जो पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस में हम देश के भावी नागरिकों के दैनिक जीवन में सामाजिक विज्ञान के महत्व को समझने की कोशिश करेंगे।''[९] किसी भी देश के सामाजिक विज्ञान को समझने के लिए उस देश की पृष्ठभूमि को समझना बहत आवश्यक है।

यदि हम जीवन के व्यावहारिक पक्ष की ओर देखें तो पायेंगे कि सामाजिक विज्ञान का अध्ययन ही हमारे अन्दर वह दृष्टिकोण तथा कौशल विकसित कर सकता है जो हमारे लिये आवश्यक है। आज विश्व का प्रत्येक देश, चाहे ऐसा हो या न हो, अपने को लोकतांत्रिक तथा लोक–कल्याणकारी राज्य कहने में गर्व का अनुभव करता है। ऐसे समाज में उन कौशलों और दृष्टिकोणों की आवश्यकता है जो उन्हें ऐसा सिद्ध करने में सहायक हों। प्रत्येक व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने देश व समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, आर्थिक ढांचे तथा राजनीतिक सरोकारों से अवगत हो जिसमें वह रहता है। ''इन सब के ज्ञान के अतिरिक्त उसे अपनी वह सकारात्मक भूमिका की सुनिश्चित कर लेनी चाहिये जिसका निर्वाह सामाजिक जीवन में एक अच्छे नागरिक के रूप में उसे करना हो।''[१०]

सामाजिक विज्ञान (Social Sciences) ऐसा विषय है जो मानव का उसके जैविक तथा अजैविक वातावरण में अध्ययन करता है। इसकी निम्न विशेषतायें हैं :

(क.) ''मानव का उसके भौतिक व प्राकृतिक वातावरण में अध्ययन,
(ख.) जीवन के प्रत्येक पहलू का वैज्ञानिक अध्ययन,
(ग.) सांस्कृतिक ज्ञान,
(घ.) मानवीय सम्बन्धों के नवीन सत्यों की खोज,
(ड.) परिपक्व छात्रों के लिये अग्रिम अध्ययन।''[११]

सामाजिक विज्ञान का विवेकपूर्ण व विधिवत् अध्ययन किया जाये तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि यह पर्यावरण चेतना, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, निर्णय क्षमता, लोकतांत्रिक व्यवहार, अन्तर्राष्ट्रीयता का रूख और भविष्यशास्त्रीय दृष्टिकोण व आवश्यक कौशल विकसित करने में मददगार विषय है। इसके अन्तर्गत यह सभी आता है :

(क.) ''सांस्कृतिक विरासत
(ख.) आपसी निर्भरता
(ग.) पर्यावरणीय व सांस्कृतिक जरूरतें
(घ.) विश्व शान्ति (विशेषकर आतंकवाद का उन्मूलन)
(ड.) अभिवृतियों और कौशलों का विकास
(च.) मिली–जुली प्रक्रिया।''[१२]

वांछनीय अभिवृत्तियों से संबंधित अनुदेशनात्मक लक्ष्य

एक प्रसिद्ध कहावत है, 'अभिवृतियों ग्रहण की जाती है, सिखाई नहीं जाती है।' अध्यापक को इस पहलू के बारे में जागरूक होना चाहिए और अपनी अभिवृति और व्यवहार द्वारा उचित अभिवृतियाँ दर्शानी चाहिये ताकि छात्र उन्हें अधिक–से–अधिक अपनायें। वांछनीय अभिवृतियों से संबंधित अनुदेशनात्मक उद्देश्यों का अर्थ है :

१. नागरिक और सामाजिक जिम्मेदारी लेने के लिए अभिवृतियाँ विकसित करना और इस प्रकार बालक को एक सक्रिय भागीदार और शिक्षित व्यक्ति बनाना।
२. लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और मूल्यों के अनुसार कार्य करने के लिए अभिवृतियाँ विकसित करना।
३. व्यक्तिगत जिम्मेदारी, नागरिक और विश्वशान्ति, संवेगात्मक परिपक्वता, बौद्धिक संगठन, सौन्दर्यातक प्रशंसा तथा निर्णय लेने की अभिवृतियाँ विकसित करना।
४. देशभक्ति, सहयोग और सहनशीलता की अभिवृतियाँ विकसित करना।
५. दूसरों के विचारों की प्रशंसा करने और अपना खुदा का योगदान देने के प्रति अभिवृतियाँ विकसित करना।

आवश्यक कौशलों के विकास से संबंधित अनुदेशनात्मक उद्देश्य

प्रत्येक छात्र में आधारभूत कौशालों का विकास विद्यालयों में समान महत्व दिए गए सामाजिक अध्ययन के शिक्षण के परिणामस्वरूप होना चाहिए।

ये कौशल विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित हो सकते हैं जैसे कि मानचित्र देखना, मानचित्र बनाना, समय चार्ट बनाना, थर्मामीटर या वर्षा मापक यंत्र जैसे उपकरणों का निरीक्षण करना इत्यादि। कौशलों का एक और वर्ग दूसरों के साथ बालक के सम्प्रेषण करने की

योग्यता से संबंधित है। इसमें प्रश्न पूछना, सभा को सम्बोधित करना, रिपोर्ट प्रस्तुत करना या किसी घटना का नाटकीयकरण करना शामिल हो सकता है। फिर बौद्धिक कौशल भी हैं जिनमें तथ्य और परामर्श में अन्तर करना, निष्कर्षों या निर्णय पर पहुचने के लिए दत्त–सामग्री का चयन करके अलग करना शामिल हैं। इसी प्रकार सामाजिक कौशलों में समूह के साथ कार्य करने की योग्यता और अन्य सदस्यों से सहयोग प्राप्त करना शामिल हो सकता है।

आवश्यक कौशलों के विकास से संबंधित अनुदेशनात्मक लक्ष्यों में निम्नलिखित शामिल हैं :

१. बालक की ऐसे कौशल विकसित करने में सहायता करना जो सामाजिक जीवन में प्रभावपूर्ण भागीदारी के लिए आवश्यक हो।

२. बालक की समीक्षात्मक और वैज्ञानिक चिन्तन तथा समय की भावना विकसित करने में सहायता करना।

३. बालक की सामाजिक कौशल विकसित करने में सहायता करना :

(क.) मुद्रित, चित्रित और चार्ट सामग्री की व्याख्या करना।

(ख.) लोगों, घटनाओं और संस्थानों को समय, स्थान और महत्व के अनुसार स्थान देना।

(ग.) सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक महत्व के शब्दों का सही ढंग से प्रयोग करना।

(घ.) महत्वपूर्ण तथ्यों को समझना और उनकी व्याख्या तुलना, विभेदीकरण, सारांशीकरण, सामान्यीकरण और आलोचना करना।

व्यावहारात्मक अर्थों में उपरोक्त की तरह उद्देश्यों को बताने के बाद, अध्यापक इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कक्षा के अन्दर और बाहर की विभिन्न क्रियाकलापों की योजना बनाने में लग जाता है जैसे कि प्रश्नावली, वर्णन, चर्चा, प्रदत्त कार्य, परियोजना कार्यान्वित करना इत्यादि। अन्त में, वह मूल्यांकन के विभिन्न साधनों और प्रविधियों की सहायता से उनका मूल्यांकन करता है ताकि पता कर सके कि जानकारी, बोध, योग्यताओं और रूचियों के क्षेत्र में बताए गए उद्देश्यों को प्राप्त किया गया है या नहीं और किस सीमा तक। विभिन्न चरणों पर सामाजिक अध्ययन पढ़ाने के निम्नलिखित उद्देश्य बताए जा सकते हैं :

सामाजिक अध्ययन के बारे में गलत धारणा; सामाजिक अध्ययन के अर्थ और स्वरूप के बारे में काफी अधिक भ्रांतियां और गलत धारणाएं बनाई जाती रही हैं जो अभी तक प्रचलित हैं। उनमें से एक धारणा तो यह है कि सामाजिक अध्ययन इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र व अर्थशास्त्र जैसे – विषयों के सम्मिश्रण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है अथवा विद्यायालयों में पढ़ाए जाने वाले जिन विषयों का मानव और उसके सामाजिक जीवन से सीधा संबंध होता है और जिन्हें विज्ञान, भाषा तथा कार्य अनुभवों के अलावा सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत समझा जा सकता है, उन्हीं का सामूहिक नाम सामाजिक अध्ययन है। इस गलत धारणा का परिणाम यह रहा है कि सामाजिक अध्ययन के अंतर्गत शामिल विषय सामग्री को उसके एकीकृत रूप में न तो संगठित करने का प्रयत्न पाठ्यपुस्तकों में किया जाता है और न उसे अपेक्षित एकीकृत या समन्वित रूप में अध्यापकों द्वारा पढ़ाया जाता है। इस तरह कक्षा में सामाजिक अध्ययन द्वारा न तो पूर्ण रूप से इतिहास का पाठ पढ़ाया जाता है अथवा पूर्ण रूप से भूगोल, नागरिकशास्त्र या अर्थशास्त्र का। सामाजिक अध्ययन को अपने वास्तविक स्वरूप में पढ़ाने के लिए जिस प्रकार के पाठ या सामग्री चाहिए वह न तो इस विषय की पाठ्यपुस्तकों में ही उपलब्ध होती है और न इसके लिए अध्यापक द्वारा ही उचित प्रयत्न किया जाता है। सामाजिक अध्ययन को इस तरह पढ़ने–पढ़ाने से एक तरह से वह उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है जिसको लेकर इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र जैसे – सामाजिक और भौतिक वातावरण से संबंधित अलग–अलग विषयों के स्थान पर सामाजिक अध्ययन को रखने का प्रयत्न किया गया था।

सामाजिक अध्ययन तथा सामाजिक विज्ञानों में अंतर; प्राय: सामाजिक अध्ययन तथा सामाजिक विज्ञानों को एक ही अर्थ में प्रयोग करने की भूल हो जाती है। यह भूल इसलिए हो जाती है क्योंकि दोनों का संबंध मानवीय संबंधों के अध्ययन और विवेचन से होता है। परंतु जहाँ तक विषय के स्तर, उसकी गहनता एवं प्रयोजन की बात है, दोनों में पर्याप्त अंतर दिखाई देता है जैसा कि निम्न वर्णन द्वारा भलीभांति प्रकट हो सकता है:

१. *गहनता की दृष्टि से भिन्नतायें :* सामाजिक विज्ञान, विषय की गहनता तथा गहराई की दृष्टि से सामाजिक अध्ययन से बहुत आगे है। इनके अंतर्गत मानवीय संबंधों का अध्ययन और विवेचन गहराई तथा अधिक विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया जाता है जिसमें अनुसंधान, खोज तथा प्रयोगों के लिए पर्याप्त स्थान रखा जाता है। इसके विपरीत सामाजिक अध्ययन की विषयवस्तु में इतनी अधिक गहराई और विद्वत्ता नहीं पाई जाती।

२. *स्तर की दृष्टि से भिन्नता;* सामाजिक विज्ञानों की विषयवस्तु का स्तर इतना ऊँचा होता है कि स्कूल स्तर पर बालकों को इसे समझने में कठिनाई होती हैं। इसका अध्ययन इस दृष्टि से कॉलेज स्तर पर ही संभव हो सकता है। इसके विपरीत सामाजिक अध्ययन में विषय सामग्री का चुनाव इस आधार पर किया जाता है कि वह स्कूलों में पढ़ाने के लिए बालकों के स्तर को देखते हुए उपयुक्त सिद्ध हो।

३. *विषयवस्तु के संगठन की दृष्टि से भिन्नता;* सामाजिक विज्ञानों के अंतर्गत उन सभी विषयों को शामिल किया जाता है जिनकार संबंध मानव समाज के संगठन तथा विकास और मानवीय संबंधों के अध्ययन से है। इन सभी विषयों को सामाजिक विज्ञान के अंतर्गत अलग–अलग विषयों के रूप में पढ़ा, पढ़ाया जाता है। इसके विपरीत, सामाजिक अध्ययन में विभिन्न सामाजिक विज्ञान संबंधी विषयों इतिहास, भूगोल, नागरिकशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि इस प्रकार की सामग्री और अनुभवों का समावेश किया जाता है जो कि विद्यालय स्तर पर छात्रों की आवश्यकता को इस प्रकार पूरा कर सकें कि उन्हें अपने पर्यावरण को समझने, उसमें व्यवस्थित होने तथा अपना और समाज का विकास करने में पर्याप्त सहायता मिल सके। इस दृष्टि से यहाँ सम्मिलित सामग्री का समन्वित रूप में अध्ययन करने पर बल दिया जाता है, पृथम–पृथक विषयों के रूप में नहीं।

४. *क्षेत्र की विशालता की दृष्टि से भिन्नता;* सामाजिक विज्ञानों का क्षेत्र सामाजिक अध्ययन की तुलना में अधिक विस्तृत होता है। सामाजिक विज्ञानों की सामग्री अपने स्तर और गहनता की दृष्टि से इतनी अधिक और कठिन होती है कि उसे स्कूल पर नहीं पढ़ाया जा सकता। इस दृष्टि से सामाजिक विज्ञानों में से ऐसी सरल, सुविधाजनक, रोचक तथा उपयोगी सामग्री का चयन किया जाता है जिसे सामाजिक अध्ययन के रूप में विद्यालयों में पढ़ा–पढ़ाया जा सके।

इस तरह यह बात भली–भांति समझी जा सकती है कि चाहे सामाजिक अध्ययन और सामाजिक विज्ञानों में दार्श्वनिक और सैद्धांतिक आधार पर कोई अंतर दिखाई पड़े या नहीं, प्रयोगात्मक और व्यवहारात्मक आधार पर विषयवस्तु के चुनाव, संगठन, पढ़ाने की विधियों, उसकी गहराई, स्तर तथा क्षेत्र की दृष्टि से पर्याप्त अंतर पाया जाता है और इसलिए इन दोनों को एक ही विषय समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए।

सामाजिक विज्ञान शिक्षण के मूल्य

- समस्या का हल करने की योग्यता का विकास
- अनुभव के आधार पर ज्ञान प्राप्ति
- तर्क शक्ति का विकास
- अन्तर्राष्ट्रीय सूझ का विकास
- कौशलों का विकास
- सामाजिक भूमिका की चेतना

सामाजिक विज्ञान शिक्षण के उद्देश्य

- राष्ट्रीय चरित्र को बढ़ाना
- प्रवृत्तियों तथा व्यवहार का निर्माण
- समूहवाद की प्रोन्नति
- अन्योन्याश्रय की भावना
- विश्व परिवार के प्रति सम्बन्धों की भावना पैदा करना
- सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण से परिचय

सुझाव

सामाजिक अध्ययन व सामाजिक विज्ञान को सफल बनाने हेतु निम्नलिखित उपाय करने की जरूरत है:

१. समाज का अध्ययन विज्ञान सम्मत बनाने हेतु प्रयास करने की आवश्यकता।
२. दोनों शब्दों/ सामाजिक अध्ययन और सामाजिक विज्ञान विषयों में उत्पन्न गलत धारणाओं पर मंथन करने की आवश्यकता।
३. पाठ्यक्रम में दोनों का सही अर्थ व उपयोग सुनिश्चित करना होगा।
४. अध्यापक सामाजिक अध्ययन व सामाजिक विज्ञान में सम्मिलित गलत धारणाओं को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।
५. सरकारों को समय–समय पर विश्लेषण करके सामाजिक विज्ञान में आ रहे बदलावों को सुनिश्चित करना होगा।

निष्कर्ष

उपरोक्त अध्ययन के फलस्वरूप निष्कर्ष यह निकलता है कि सामाजिक अध्ययन का अर्थ समाज का अध्ययन अर्थात समाज की पृष्ठभूमि सांस्कृतिक ढाचे व समाज के रीति–रिवाजों, रहन–सहन इत्यादि अर्थात् समाज में विचरण करने वाले व्यक्ति किस प्रकार अपना निर्वाह व विचरण करते है। किस प्रकार सामाजिक रीतिरिवाजों को जीवन में ढालकर तरक्की व उन्नति करता है। इसी प्रकार सामाजिक विज्ञान से अभिप्राय है सामाज व सामाजिक गतिविधियों का वैज्ञानिक तरीके से विवेकपूर्ण व प्रामाणिक अध्ययन करना जब भी किसी विषय जो सामाजिक विषय का वैज्ञानिक तरीके से अध्ययन व निर्वहन किया जाऐगा। तब वह अध्ययन वैज्ञानिक अध्ययन कहा जाऐगा अर्थात् सामाजिक विज्ञान कहलाएगा।

सन्दर्भ सूची

[१]उमा मंगल – *''सामाजिक अध्ययन शिक्षण'',* आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या २
[२]बी०एल० शर्मा – *''सामाजिक विज्ञान शिक्षक'',* आर०लाल०, बुक डिपो, मेरठ, पृष्ठ संख्या ३
[३]उपरोक्त, पृष्ठ संख्या ३
[४]जे०एस० बालिया – *''सामाजिक अध्ययन शिक्षण'',* अहम पाल पब्लिकेशन, जलन्धर, पृष्ठ संख्या १
[५]श्रीमति उमा मंगल – *''सामाजिक अध्ययन शिक्षण'',* आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या ३
[६]बी०एस० माथुर – *''आधुनिक सामाजिक विज्ञान'',* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृष्ठ संख्या १९
[७]जे०एस० बालिया – *''सामाजिक अध्ययन शिक्षण'',* अहम पाल पब्लिकेशन, जलन्धर, पृष्ठ संख्या ५
[८]बी०एस० माथुर – *''आधुनिक सामाजिक विज्ञान'',* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, पृष्ठ संख्या ३
[९]उपरोक्त, पृष्ठ संख्या १
[१०]उपरोक्त, पृष्ठ संख्या ७
[११]उपरोक्त, पृष्ठ संख्या १८
[१२]उपरोक्त, पृष्ठ संख्या १९

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,40-41**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 08 जनवरी 2018

स्वामी विवेकानन्द : शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध

सुनील कुमार चतुर्वेदी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *स्वामी विवेकानन्द : शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र का लेखक मैं *सुनील कुमार चतुर्वेदी* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैंने शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

स्वामी जी नेग गुरु-शिष्य सम्बन्ध के विषय में अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है- ''भारत में यह गुरु-शिष्य सम्बन्ध वैसी ही प्रथा है, जैसे पुत्र का गोद लेना। गुरु पिता से भी बढ़ कर है और मैं सचमुच गुरु का ध्रुव हूँ- हर तरह से उनका पुत्र। पिता से भी बढ़ कर मैं उनकी आज्ञा का अनुचर हूँ, उनसे बढ़ कर सम्मान्य हैं- और वह इसलिए कि जहाँ मेरे पिता ने मुझे केवल यह शरीर मात्र दिया, मेरे गुरु ने मुझे मेरी मुक्ति का मार्ग प्रदर्शित किया और इसलिए वे पिता से बढ़ कर हैं। मेरा अपने गुरु के प्रति यह सम्मान जीवन व्यापी होता है, मेरा प्रेम चिरजीवी होता है। बस एक मात्र यही सम्बन्ध, जो सच रहता है मैं उसी प्रकार अपने शिष्यों को ग्रहण कराता हूँ। कभी-कभी तो गुरु एक दम नवयुवक होता है और शिष्य कहीं अधिक बूढ़ा। पर चिन्ता नहीं, बूढ़ा पुत्र जनता है और मुझे 'पिता' शब्द से सम्बोधित करता है और मुझे भी उसे पुत्र अथवा पुत्री कहकर पुकारना पड़ता है।[१] इन विचारों से यह स्पष्ट होता है कि गुरु आध्यात्मिक पिता औ शिष्य उसका मानस पुत्र होता है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध ठीक-ठीक पिता-पुत्र का सम्बन्ध माना जाता है। स्वामी जी ने गुरु का स्थान पिता से भी बढ़ कर माना है क्योंकि हमारे अन्दर आध्यात्मिक शक्तियों को गुरु ही संपादित करता है जबकि पिता हमें मात्र भौतिक शरीर ही देते हैं। मानव जीवन का उद्देश्य है- अपने अन्दर व्याप्त आध्यात्मिक तत्व को पहचानना एवं उसका साक्षात्कार करना। यह शक्ति हमें गुरु से ही मिलती है। यदि गुरु का सहारा न लिया जाय तो शिष्य उस शक्ति को पहचानने में सर्वथा असमर्थ होगा; क्योंकि मानव जीवन में गुरु रहना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। गुरु-शिष्य सम्बन्ध पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध होता है जिसमें गुरु अपने शिष्य को हर प्रकार की सुविधा देता है, उसके रहने, खाने और वस्त्र की भी व्यवस्था करता है तथा उसे नि:शुल्क शिक्षा देता है। इसके बदले में शिष्य गुरु की पितृवत् सम्मान देता है, उसकी सेवा करता है, उसकी आज्ञा का पालन करता है तथा उसके प्रति श्रद्धा, विश्वास, नम्रता और सहानुभूति का भाव रखता है। गुरु और शिष्य में ऐसा मधुर सम्बन्ध स्थापित होने पर ही शिष्य क्रिया सुचारू रूप से सम्पादित होती है। स्वामी जी के शब्दों में- ''गुरु धार्मिक पूर्वज और शिष्य उसका धार्मिक वंशज

* शोध छात्र, शिक्षा संकाय, जयपुर नेशनल यूनिवर्सिटी, जयपुर (राजस्थान) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

होता है। स्वाधीनता और स्वतंत्रता की बातें चाहे जितनी अच्छी लगे, पर विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और विश्वास के बिना कोई ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है।''[२] शिष्य गुरु से तभी ज्ञान प्राप्त कर सकता है जब वह अपने अन्दर अपने गुरु के प्रति विनय, नम्रता, भक्ति, श्रद्धा और प्रसन्न और प्रभावित होकर गृह्यतम ज्ञान को भी अपने शिष्य को दे देता है। स्वामी जी के कहने का अभिप्राय है- यद्यपि लोग शिक्षा क्षेत्र में शिष्य को दी जाने वाली स्वाधीनता तथा स्वतंत्रता की बातें अधिक करते हैं लेकिन ये बातें ज्ञानार्जन हेतु उतनी उपयोगी नहीं हैं जितनी की नम्र और विनयी बन कर एक शिष्य अपने गुरु से प्राप्त कर लेता है। इसलिए एक शिष्य को चाहिए कि वह अपने व्यवहार से अपने गुरु को प्रसन्न करके वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर ले। एक सच्चा शिष्य ऐसा ही व्यवहार करके ज्ञानार्जन करता है।

गुरु और शिष्य का आपसी सम्बन्ध प्राचीन काल में अधिक दृढ़ हुआ करता था क्योंकि ज्ञानार्थी शिष्य गुरुकुल में ही रह कर, उनकी सेवा कर, उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर ज्ञानार्जन करता था। वे वैदिक कालिन गुरु-शिष्य के ऐसे सम्बन्ध एवं ऐसी प्रणाली से अत्यधिक प्रभावित हुए तथा ऐसी ही प्रणाली का पुन: सूत्रपात शिक्षा क्षेत्र में किया। जैसा कि स्वामी जी ने कहा है- ''पहले हमें गुरु-गृह वास और उस जैसी अन्य शिक्षा प्रणालियों को पुन: जीवित करना होगा। आज हमें आवश्यकता है, वेदान्त युक्त पाश्चात्य विज्ञान की, ब्रह्मचर्य के आदर्श, श्रद्धा और आत्म विश्वास की। दूसरी बात जिसकी आवश्यकता है, वह है उस शिक्षा पद्धति का निर्ममूलन, जो मार-मार कर गधों को घोड़ा बनाती है।''[३]

स्वामी जी के कहने का तात्पर्य यह है कि शिष्य गुरु के सानिध्य में रह कर ही विद्याध्ययन कर सकता है। गुरु के सानिध्य में रहने से विधार्जन के साथ-साथ उसमें उच्च नैतिकता, उत्तम आचरण एवं व्यवहार का भी विकास होगा। इससे उनमें आत्म-विश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना का विकास होगा। स्वामी जी ने यह स्वीकार किया है कि आज भारत की गरीबी का प्रमुख कारण है- आत्म-विश्वास एवं आत्म निर्भरता का अभाव। गुरु-शिष्य में मधुर सम्बन्ध स्थापित होने पर शिक्षा क्षेत्र की अनेक कु-रीतियों को दूर किया जा सकता है और साथ ही साथ विद्यालयों से निकलने वाले छात्रों से समाज सेवा की आशा की जा सकती है। आज ऐसे ही लोगों की आवश्यकता है, जो गरीबों, दीनों-दुखियों, रोगियों, अपाहिजों और अनाथों की सेवा पूरी निष्ठा से कर सकें तथा साथ ही साथ उन निरक्षर और आत्म-विश्वास खो बैठने वाले स्त्री-पुरुषों को साक्षर और आत्म-विश्वासी बना सकें।

स्वामी जी ने गुरुकुल प्रणाली पर आधारित गुरु-शिष्य सम्बन्ध की जैसी व्यवस्था दी है, क्या वैसा सम्बन्ध आज के गुरु-शिष्य के मध्य कायम किया जा सकता है? उसे हम सैद्धान्तिक रूप में भले स्वीकार कर लें परन्तु व्यावहारिक रूप में आज न तो गुरुकुल प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था ही कायम की जा सकती है और न हि गुरु अपने छात्रों को पुत्रवत् स्नेह व सहानुभूति ही देकर उन्हें बिना शुल्क लिए पढ़ा सकते हैं। दूसरी तरफ आज के शिष्य अपने गुरुओं को वह सम्मान तथा आदर ही दे सकते हैं।

संदर्भ ग्रंथ

[१]*विवेकानन्द साहित्य,* दशम खण्ड, पृष्ठ संख्या ८
[२]वही, नवम खण्ड, पृष्ठ संख्या २८
[३]वही, अष्टम खण्ड, पृष्ठ संख्या २२९

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,42-49**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 29 दिसम्बर 2017

स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन

व्यासमुनि सिंह*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *स्वामी विवेकानन्द का शिक्षा दर्शन* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र का लेखक मैं *व्यासमुनि सिंह* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैंने शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

भारत के सभी शिक्षा शास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली अंग्रेजी द्वारा आरोपित एक विदेशी शिक्षा प्रणाली है। १८३५ मकौले की शिक्षा नीति तथा १८५४ के वुड घोषणा पत्र द्वारा पाश्चात्य संस्कृति सभ्यता, ज्ञान एवं विज्ञान को भारतीय शिक्षा का आधार बनाकर स्वदेशी शिक्षा प्रणाली का उन्मूलन किया गया जिसका परिणाम हुआ भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का विनाश। मैकाले का उद्देश्य था ''हमें भारत में इस तरह की श्रेणी पैदा करने का यत्न करना चाहिए जो हमारे उन करोड़ों भारतवासियों के बीच जिन पर हम शासन करते हैं एक दूसरे को समझाने और बुझाने का काम दे सकें। ये लोग ऐसे होने चाहिए जो केवल खून एवं रंग की दृष्टि से हिन्दुस्तानी हो किन्तु अपनी रुचि, भाषा भावों एवं विचारों की दृष्टि से अंग्रेज हों।''

मैकाले की रिपोंट को स्वीकृति देते हुए ७ मार्च १८३५ को तत्कालीन गर्वनर लार्ड विलियम बैटिंग ने कहा था, ''जितना धन शिक्षा के लिए निश्चित किया जाय उसका सबसे अच्छा उपयोग यही है कि उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर व्यय किया जाय।''[२]

भारत के राष्ट्र निर्माताओं को मैकाले द्वारा रचे गये षडयंत्र को समझने में देर नहीं लगी। यही कारण है कि उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन को भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन का एक महत्वपूर्ण अंग बना लिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्र नाथ टैगोर, अरविन्द, महात्मा गाँधी, मदन मोहन मालवीय आदि महापुरुषों तथा उनके अनुयायियों ने भारतीय जीवन पद्धति पर आधारित शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की। ऐसी शिक्षा संस्थाओं में गुरुकुल कांगड़ी, अरविन्द आश्रम तथा शान्ति निकेतन (विश्व भारती) के नाम विशेष रुप से उल्लेखनीय है। इन राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं में मातृभूमि के लिए मर मिटने वाले स्वाभिमानी देश भक्तों का निर्माण हो रहा था। दुर्भाग्य से स्वतंत्र भारत में इन महान राष्ट्रीय शिक्षा संस्थाओं का भी आंग्लीकरण कर दिया गया है।

* (एम०एस०सी०, बी०एड्०) प्रधानाचार्य, श्री० शिवजपत सिंह जनता इण्टर कॉलेज (भिरौली बाजार) महराजगंज (उत्तर प्रदेश) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

सन् १९४७ के बाद भारत सरकार ने तीन राष्ट्रीय शिक्षा आयोगों की नियुक्ति की है। विश्वविद्यालय शिक्षा (राधा-कृष्णन) आयोग १९४८-४९। माध्यमिक शिक्षा (मुदालियर आयोग) १९५२-५३ और शिक्षा (कठोर) आयोग १९६४-६६। संतोष का विषय है कि इन तीनों राष्ट्रीय आयोगों ने अपने-अपने ढंग से शिक्षा के भारतीयकरण का समर्थन किया है और यह प्रस्ताव किया है कि भारतीय शिक्षा का आधार भारतीयता, भारतीयता जीवन दर्शन एवं भारतीयों की आकांक्षाओं का ही होना चाहिए। उदाहरण के लिए विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग ने अपने प्रतिवेदन में कहा है कि मनुष्य को समाज के विषय में ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। आयोग के शब्दों में, ''Everyone should know something of the society in which he lives, the great forces that would contemporary civilization, History, Economic, Politics, Sociology, Psychology, Anthropology, belong to the group of social sciences, whatever may be our specialized field. a general understanding of four social environment and of human intitutions is essential.''[3]

राधा कृष्णन आयोग का स्पष्ट मत है कि भारतीय शिक्षा का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य भारतीय को उनकी प्राचीन संस्कृति की महानता से परिचित कराना होना चाहिए। आयोग के शब्दों में- ''The Cheif source of spiritual nourishment for any people be its own culture, perpetually re-discovered and renewed. A society without a knowledge of the past which had made it would be lacking in-depth and dignity''[4]

माध्यमिक शिक्षा आयोग का कहना है कि भारतीय शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण राष्ट्र की आवश्यकता एवं आदर्शों के सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। माध्यमिक शिक्षा आयोग के शब्दों में - ''A political social and economic condition changes and new problem arise it becomes necessary to re-examine carefully and rotate clearly the objectives which education at each definite stage of should keep in view. Moreover, this should take into account. not only the fact of the existing situation but also the direction of its development and the nature and the type of social order that we envisae for the future of which the education has to be read.''[5]

शिक्षा आयोग १९६४ ने राष्ट्रीय चेतना को बढ़ावा देने के लिए पाठ्यक्रम में विशेष मानवीय एवं सांस्कृतिक मूल्यों को शामिल करने की सिफारिश की है।''[६]

उच्च शिक्षा का विवरण देते हुए आयोग ने कहा कि शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य है शारीरिक सामर्थ्य का विकास, मानसिक शक्तियों का विकास इस प्रकार विकास कि छात्रों में नैतिक और जागरुकता विकसित हो सके। सामाजिक न्याय की स्थापना हो और कमीशन की रिर्पोट में शिक्षा का उद्देश्य, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास बताया है। कमीशन ने धर्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए चरित्र और नैतिक मूल्य के निर्माण के लिए इसकी सिफारिश उनका एक ही माध्यम है और वह है शिक्षा।[७]

स्वामी विवेकानन्द के समान शिक्षा आयोग भी शारीरिक शिक्षा पर बल देता है और उसका कहना है कि परम्परागत खेलों के माध्यम से बच्चों में उत्तरदायित्व तथा सहयोग की भावना, साथ रहने की भावना आदि गुणों का विकास होगा। आयोग ने आध्यापकों के जीवन स्तर को सुधारेन की बात कही है।''

आज के युग में जब शिक्षा संस्थानों में विशेष रुप से भारत अनुशासन का अभाव है, चारित्रिक दृढ़ता की कमी है, गुरु-शिष्य सम्बन्धों के बीच खाई है, वर्तमान शैक्षिक पाठ्यक्रम भारत की आवश्यकताओ के अनुकूल नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वामी विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है जिससे भारत की समस्या, मनुष्य का लक्ष्य पूरा हो सके।

''इस समय भारत में कई परस्पर विरोधी विचारधाराएसँ एवं प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं। ब्रिटेन से हमारे प्राय: २०० वर्ष पुराने सम्बन्ध है और हमारी राजनीतिक समस्याओं, जीवन शैली तथा शिक्षा संगठन पर उसका अतुल प्रभाव है। स्वतंत्रता के बाद हमारा अमेरिका से भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ और उसने भी हमारी जीवन शैली और आर्थिक चिन्तन तथा शिक्षा पद्धति को दूर तक प्रभावित किया है। शिक्षा के क्षेत्र के में हमारे कृषि विश्वविद्यालय, सेमेस्टर प्रणाली और प्रौद्योगिक शिक्षा संस्थान इसके प्रमाण हैं। आठवें दशक में वामपंथी तत्वों की प्रधानता बढ़ी है और सोवियत रुस

ने हमारी अर्थनीति आयोजन प्रणाली तथा कुछ अंशों में शिक्षा पद्धतियों को भी प्रभावित किया।[८]

जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों की भाँति ही शिक्षा के क्षेत्र में भयंकर भ्रम है। अनेक राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय आयोगों तथा समितियों की रचनाओं के बावजूद शिक्षा के क्षेत्र में गुणात्मक परिवर्तन के लक्षण नहीं दिखाई दे रहे हैं। उनका समाधान नहीं हो रहा है। हम जहाँ थे वहीं पर हैं। शिक्षा का दायरा बढ़ता जा रहा है। लेकिन शिक्षा से हम जिन बुनियादी समस्याओं के समाधान की अपेक्षा रखते हैं। उदाहरण के लिए नूतन समाज के रचना, चरित्र निर्माण, रोजगार की व्यवस्था आदि के क्षेत्र में कहीं भी समाधान नहीं हो रहा है।

आज के भारतीय चिन्तन के सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि हम उस संकट से कैसे निकले। स्वामी जी के साहित्य में उन समस्याओं का समाधान मिलता है। उन्होंने विभिन्न समस्याओं पर गहराई से विचार किया था। इसलिए वे भारतीय शिक्षा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। भारत की वर्तमान शिक्षा प्रणाली एवं स्वरूप के पुनर्गठन के सम्बन्ध में स्वामी जी के विचार आधार बन सकते है।

''स्वामी विवेकानन्द भारतीय नव जागरण की उस युग सन्धि में आविर्भूत हुए थे। जब भारत प्राय: एक चौराहे पर आकर खड़ा हो गया था। वह अपनी अस्मिता को भूल चुका था। भारत पश्चिम का प्राय: मुखोपजीवी बनकर रहे गया था। स्वामी विवेकानन्द के परम्परागत जीवन मूल्यों और आदर्शों को आत्मसात् किया था, साथ ही उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की ऊर्जा को भी समझ लिया था और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि भावी. भारत की आत्मा तथा भारत के शरीर से हो''[९]

स्वामी विवेकानन्द केवल शास्त्री ही नहीं थे, वरन् वे एक व्यावहारिक शिक्षा शास्त्री भी थे। उन्होंने अपनी एक शिष्य परम्परा स्थापित की और शिष्य परम्परा के अर्न्तगत उन्हें गुरु भाई प्राप्त हुए थे। शिष्य परम्परा में कुछ महिलाएं भी थी, जिनके माध्यम से उन्होंने कुछ प्रारम्भिक विद्यालय भी संचालित किये थे। स्वामी विवेकानन्द का आचार्यत्व अपने में महान् था। यद्यपि स्वामी जी ने औपचारिक शिक्षण के सम्बन्ध में से कोई योजना प्रस्तुत नहीं की थी, लेकिन उन्होंने जीवन पर्यन्त अनौपचारिक शिक्षण का कार्य किया तथा विभिन्न दार्शनिक सामाजिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर भाषण दिये। भारत के लिए वे सब शिक्षा की एक रुपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

स्वामी जी ने शिक्षा का परम लक्ष्य था व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप का बोध कराना। वास्तविक रुपरेखा बोध आत्म-ब्रह्म का साक्षात्कार है। स्वामी जी के समक्ष विशुद्ध बौद्धिक दर्शन का प्रश्न ही नहीं था, परन्तु व्यवहारिक शिक्षा का जीवन लक्ष्य भी था। उनका कहना था कि यदि व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरुप का साक्षात्कार कर ले तो संसार की प्राय: सारी समस्याएँ- राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय- स्वत: ही सुलझ जायेंगी।

स्वामी विवेकानन्द ने जन शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये हैं। मठों, मन्दिरों, गिरजाघरों आदि स्थानों पर तथा साधु सन्तों की सेवाओं का किस प्रकार जन शिक्षा तथा स्त्री शिक्षा में प्रयोग हो सकता है आज यह विचारणीय प्रश्न है।

काम, क्षुधा और जिज्ञासा की भाँति शिक्षा भी मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है और तकनीकी तथा नैपुण्य की भाँति एक अर्जित प्रवृत्ति की। आदिम मानव समुदाय में शिक्षा एक सहज प्रवृत्ति के रूप में दीख पड़ती है क्योंकि उस समय बाल संस्कारों, माता-पिता के अनुरूप तथा अपने परिवेश के सन्दर्भ में प्रतिक्रिया के आधार ही जीवन संग्राम में खड़ा होने की क्षमता प्राप्त करना था। कालान्तर में शिक्षा सम्बन्धी बहुत से तत्व उसने समाज में रहकर अर्जित किये। शिक्षा विषयक सुदीर्घ परम्परा मानवीय चिन्तन तथा अनुभवों की आँच में तपकर चार प्रकार के सम्प्रदायों के रुप में विकसित हुई है; १. आदर्शवाद, २. प्रकृतिवाद, ३. व्यवहारवाद, ४. यथार्थवाद।

''शिक्षा के क्षेत्र में आदर्शवाद मनुष्य के सार्वभौम आदि कालीन धर्मानुभवों भारत के वेदान्त दर्शन और चीन के लाओत्सेवासी दर्शन के सम्मिलित तत्वों से आविर्भूत हुआ और प्राचीन यूनान के दार्शनिक चिन्तन में उसकी परिणति हुई। इसके बाद से आशीर्वाद की सुदीर्घ परम्परा रही है और विभिन्न देशों तथा जातियों ने अपने स्थानीय रंगों के अनुकूल उसे अपने ढंग से ग्रहण किया है। आदर्शवादी विचार का प्रवर्तक प्लेटो है जिसने अपने ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में इसका शास्त्रीय आख्यान किया है। प्लेटो के बाद हीगेल, जान लाक, जार्ज वर्कले, बेट्रेडं रसेल तथा डेविड ह्यूम के प्रमुख

प्रवक्ता हुए हैं। भारत में वर्तमान समय में दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, महात्मागाँधी, डॉ० राधाकृष्णन आदि आदर्शवादियों की श्रेणी में आते हैं। इन्होंने शिक्षा के स्वरूप का निर्धारण आधुनिक आदर्शवाद के रूप में किया।''[१०]

स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक उद्देश्यों के वर्गीकरण के अनेक आधार हो सकते हैं। स्वामी जी मुख्य रूप से आदर्शवादी सम्प्रदाय के विचारक हैं। लेकिन उनके शिक्षा दर्शन में यर्थाथवादी, प्रकृतिवादी, और प्रयोजनवादी, प्रवृत्तियों के लक्षण भी दृष्टिगोचर होते हैं। स्वामीजी की प्राचीन मूल्यों के प्रति आस्था तथा स्वामी जी का वेदान्तवाद स्वयं में आदर्शवादी का मेरुदण्ड हैं। लेकिन वेदान्तवाद नव्य व्याख्या-प्रकृतिवाद, यर्थावाद एवं प्रयोजनवाद में मुख्य तत्वों से परिपूर्ण है। उदाहरण के लिए उन्होंने तकनीकी शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा, जन समूह की शिक्षा आदि पर जो भी विचार प्रकट किये हैं। वे सब यथार्थवाद के निकट है। शैक्षिक वर्गीकरण का एक अन्य आधार कुछ विशिष्ट उद्देश्यों तथा सार्वभौम उद्देश्यों की कल्पना हो सकती है। मानव की अन्तर्निहित क्षमताओं का पूर्ण विकास शिक्षा का एक ऐसा उद्देश्य है जिसे सार्वभौम उद्देश्य माना जा सकता है। लेकिन भारत तथा भारत जैसे अन्य विकासशील देशों में रोजगार की क्षमताओं और उपलब्धियों का विकास जीवन की प्रमुख आवश्यकता है, जो शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्यों समझा जा सकता है। स्वामी जी के शिक्षा दर्शन में यह दोनों प्रवृत्तियाँ सक्रिय रुप से दृष्टिगोचर होती हैं।

''शौक्षिक उद्देश्यों के सम्बन्ध में वैयक्तिक एवं सामाजिक हितों की परिकल्पना भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तिगत हित से तात्पर्य व्यक्ति का अपना किसी भी राष्ट्र से उत्थान है। भौतिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि और सामाजिक हित से तात्पर्य सम्पूर्ण समाज की कल्याण कामना से है। उदाहरण के लिए व्यक्ति में आत्मविश्वास की भावना जागृत करना एक व्यक्ति का हित माना जा सकता है और देश भक्ति की भावना, सामाजिक हित, लेकिन यह एक सही भेद हैं। मूलत: तो व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज व्यक्तियों का समुच्चय। व्यक्ति के हित समाज के हित पर अपना प्रभाव डालते हैं। अत: स्वामी जी के शैक्षिक विचार व्यक्ति और समाज की परिसीमा में नहीं बाँधे जा सकते।''[११]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विवेकानन्द के शैक्षिक उद्देश्यों को किसी पूर्व निर्धारित वर्गीकरण में आवद्ध नहीं किया जा सकता। उनके शिक्षा उद्देश्य उनके आधारभूत जीवन दर्शन, सामाजिक परिवेश और उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप है। उनका वर्गीकरण किसी भी कसौटी के आधार पर किया जा सकता है। लेकिन वह एक आरोप मात्र होगा। सहज प्रक्रिया नहीं। १९वीं शताब्दी के नवजागरण ने नव्य वेदान्त के मुख्य तत्वों को केन्द्र बिन्दु बनाकर जिस सर्वतोमुखी जीवन संरचना का स्वप्न देखा उसकी दृष्टि आकाशोन्मुखी होते हुए भी, चरण पूरी तरह पृथ्वी पर अवस्थित है। स्वामी विवेकानन्द जी इस नव्य वेदान्त के अग्रणी प्रवक्ता हैं। उनके शिक्षा सम्बन्धी लक्ष्य नव्य वेदान्त की भावना अनुप्राणित है।''[१२]

नव्य वेदान्त की विचारधारा में व्यक्तिहित और समाजहित पर समान बल दिया जाता है और यह शैक्षिक उद्देश्यों के सम्बन्ध में भी चरितार्थ है।

स्वामी विवेकानन्द जी ऐसे परम्परागत व्यावसायिक तकनीकी शिक्षा शास्त्री न थे जिन्होंने शिक्षा का क्रमबद्ध, सांगोपांग एवं सुनिश्चित विवरण दिया हो। मुख्य रूप से वह एक दार्शनिक, देशभक्त, समाज सुधारक पैगम्बर थे, जिनका लक्ष्य अपने देश और समाज में सोयी हुई जनता को जगाना और उसे नव निर्माण के पथ पर अग्रसर करना था। इस सर्वतोन्मुखी लक्ष्य के बाद आ जाने पर स्वामी जी का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक विचार अपने आपमें एक साधन मात्र रूप में दृष्टिगत होता है जो अपने किसी न किसी रूप और निहितार्थ में व्यक्ति के परमोत्थान तथा समाज के नवोत्थान से अभिप्रेरित है। स्वामी जी की चिन्तन धारा में शिक्षा व्यक्ति के परमोत्थान तथा समाज के नवोत्थान से अभिप्रेरित है। स्वामी जी की चिन्तन धारा में शिक्षा व्यक्ति के जीवन की प्रक्रिया भी है और समाज जीवन की भी। गहन शिक्षा अंधकार का निवारण कर उसे, सत्यं, शिव, सुन्दरम् के पथ की ओर अग्रसर करती है और समाज जीवन की प्रक्रिया के रूप में वह समाज रचना के दोषों का परिहार कर समाज को स्वस्थ, सचल ओर समर्थ बनाने की लालसा से परिपूर्ण है।

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा सम्बन्धी यह अवधारणा प्लेटों की शिक्षा सम्बन्धी धारणा से किंचित साम्य रखती है। प्लेटो ने शिक्षा के बहिरंग रुप रंग के साथ ही साथ अन्तरंग रूप रंगों को भी परखा है। स्वामी जी ने इस दृष्टि से

अपने विशाल दार्शनिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक, विचार फलक पर खड़े होकर शिक्षा के भी कुछ बीज फेंके हैं जिन्हें उपयुक्त संरक्षण और परिरक्षण के द्वारा विशाल सम्पुष्ट पादपों एवं वृक्षों का रूप दिया जा सकता है। स्वामी जी के शिक्षा सम्बन्धी कुछ मंत्रों के रूप में है कुछ आदर्शों के रुप में हैं, कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में हैं जिन्हें विस्तृत रूप देने का उन्हें अपने जीवन में अवकाश नहीं मिला था। स्वामी जी के शिक्षा सम्बन्धी विचार कुछ मंत्रों के रूप में है कुछ आदर्शों के रुप में हैं, कुछ मार्गदर्शक सिद्धान्तों के रूप में हैं जिन्हें विस्तृत रूप देने का उन्हें अपने जीवन में अवकाश नहीं मिला था। स्वामी जी के शिक्षा सम्बन्धी सूत्र उनके विचार महोदधि में उसी तरह विखरे पड़े हैं जिस तरह समुद्र में रत्न, लेकिन इन सूत्रों का सावधानी से अन्वेषण और संकलन करने पर एक सुन्दर हार तैयार किया जा सकता है।''[१३]

स्वामी जी के शैक्षिक विचार उनके सम-सामयिक परिवेश जीवनगत अनुभवों तथा मूल आध्यात्मिक दार्शनिक मान्यताओं की सर्जना है तथा उनका हृदय तत्कालीन परिवेश की चुनौती को स्वीकार कर विविध समस्याओं के संदर्भ में अपनी समाधान प्रतिक्रिया को प्रकट करता था। समसामयिक परिवेश में सबसे बड़ी आवश्यकता आत्मविश्वास, राष्ट्रवाद, तथा सामाजिक एवं राजनैतिक, संचेतना की थी। स्वामी जी के पारिवारिक स्वदेशी तथा विदेशीय जीवनगत् अनुभवों ने समकालीन वातावरण के प्रति विद्रोह की भावना भर दी थी और भावी भारत का धुँधला सा चित्र उनके मानस पटल पर उभरने लगा था। स्वामी जी की मूल्य आध्यात्मिक-दार्शनिक मान्यताओं ने उन्हें वेदान्त को एक समग्र जीवन दर्शन के रूप में ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया था वह नयी दिशा तथा दृष्टि दी जिसको लेकर वे अपने स्वप्न को साकार कर सकते थे। स्वामी जी के शैक्षिक उद्देश्यों पर इन सबकी छाप है।[१४]

स्वामी विवेकानन्द को प्राचीन भारत की वर्ण व्यवस्था में साकार हुए सामाजिक सामंजस्य तथा समन्वय के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। इसलिए उनकी हार्दिक अभिलाषा थी कि जाति प्रथा को उदात्त बनाया जाय। तत्त्व की बात यह नहीं है कि समाज पर नीरस एकरूपता की कोई व्यवस्था थोप दी जाय, आवश्यकता इस बात की है कि हर व्यक्ति को सच्चे ब्राह्मण का पद प्राप्त करने में सहायता दी जाये।''[१५]

वर्ण व्यवस्था की सामाजिक विकासवाद के रूप में एक नई व्याख्या करते हुए विवेकानन्द ने लिखा है ''एक सिर पर आदर्श ब्राह्मण है और दूसरे पर आदर्श चाण्डाल है और समस्त कार्य चाण्डाल को ब्राह्मण की स्थिति तक उठाना है। इस प्रकार समाज सुधार का लक्ष्य समाज केक निम्नतम मनुष्यों को उच्चतम मनुष्यों की स्थिति तक विकसित करना है।'' इस उदेश्य की पूर्ति के लिए विवेकानन्द ने निम्नलिखित सुझाव दिये :

- सबसे पहले ग्रन्थों में छिपे आध्यात्मिक सत्यों का प्रचार किया जाना चाहिए ताकि जाति व्यवस्था के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाएँ दूर हो जायें तथा सही दृष्टिकोण बन सके।
- दूसरा देश के सभी नर-नारियों को संस्कृत भाषा का ज्ञान कराया जाय ताकि वे भारतीय समाज व्यवस्था से सम्बन्धित लेखों को स्वयं पढ़ सकें और उनके मूल रूप को जान लें।
- तीसरा जातिवाद को दूर करने के लिए शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया जाय क्योंकि शिक्षा से ही वह संस्कार उत्पन्न होंगे जो मानव-मानव में मध्य बनी हुई प्रत्येक खाई को दूर कर सकेंगे।

समाज सुधारक के रूप में स्वामी जी की दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। जिस समय से बहुत ही प्रबुद्ध और अनुप्रेरित होते उस समय वे जाति व्यवस्था के उन्मूलन की बात करते थे। किन्तु अन्य अवसरों पर विशेषकर जबकि वे परम्परावादी श्रोताओं के समझ बोलते तो समाज के अवयवी विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। वास्तव में ये दोनों प्रवृत्तियाँ परस्पर विरोधी नहीं हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वर्ण व्यवस्था वास्तव में समाज का चारित्रिक मूल्यांकन था जो स्थिर न होकर सतत् गतिशील ओर परिवर्तनशील है। वर्णव्यवस्था एक आत्मवाद पर आधारित थी जो एक समाज और एक प्रयोजन में विश्वास करती थी। यदि आज जाति व्यवस्था फूहड़ जाति प्रथा में परिणत हो गयी है तो समय की माँग है कि उसकी पुनर्व्याख्या हो, क्योंकि चारित्रिक या शैक्षिक दृष्टिकोण से आज भी सारे संसार में चारों वर्ण विद्यमान हैं। प्रज्ञान विकसित करने वाला वर्ग ब्राह्मण है, समस्त शासक वर्ग क्षत्रिय है, समस्त व्यापारी वर्ग वैश्य है

और शारीरिक श्रम करने वाला शूद्र है, चाहे वह जन्म से ब्राह्मण ही क्यों न हो, लेकिन इसमें से कोई हेय नहीं है क्योंकि मानव समाज रूपी शरीर के ये सभी अंग हैं और सभी की आवश्यकता है।

समकालीन भारत में अंग्रेजों द्वारा चलाई हुई शिक्षा प्रणाली के विरूद्ध विद्रोह करके राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की स्थापना का बीड़ा उठाने वाले दर्शनिकों में स्वामी विवेकानन्द का नाम प्रमुख है। उन्होंने भारत पर पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली लागू करने का विरोध किया और भारत की संस्कृति के अनुरूप शिक्षा प्रणाली का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है- ''भारत वर्ष में अति प्राचीन काल से शिक्षा जीवन में मार्गदर्शन का साधन रही है। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण सर्वांगीण दृष्टिकोण रहा है। यहाँ के ऋषियों ने मानव-जीवन के सभी पहलुओं के विकास पर जोर दिया है। इसलिए प्राचीन भारत में शिक्षा का लक्ष्य केवल बौद्धिक जानकारी देना मात्र न होकर शिक्षार्थी की अर्थिक सुरक्षा के साथ-साथ उसकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास था।''[१६]

वेदों और उपनिषदों में प्राचीन भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का उल्लेख मिलता है। इस काल में शिक्षा प्रदान करने के लिए आश्रम, गुरूकुल, मठ, चरण परिषद् और संघ हुआ करते थे। इन संस्थाओं में निश्चित आयु में और कुछ नियमों के अनुसार प्रवेश किया जा सकता था।

इसके अतिरिक्त ग्रामों में पाठशालायें भी होती थी। ये सभी शिक्षण संस्थायें किसी प्रकार के नियंत्रण से स्वतंत्र थीं। अत: प्राचीन भारतीय शिक्षा के उद्देश्य, ईश्वरभक्ति चरित्र निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, सामाजिक एवं नागरिक कर्तव्यों का पालन, कार्यकुशलता में विकास और संस्कृति का प्रसार और विकास थे।

शिक्षादर्शन के क्षेत्र में स्वामी जी की तुलना शिव के महानतम शिक्षा शास्त्रियों प्लेटो, रूसों और बट्रेण्ड रसेल से की जा सकती है क्योंकि उन्होंने शिक्षा के कुछ सिद्धान्त किये है जिनके आधार पर विशाल भवन का निर्माण तकनीकी विद्वान कर सकते हैं।

''स्वामी विवेकानन्द के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु है वेदान्त। जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों- अध्यात्म, दर्शन, मनोविज्ञान, समाज संगठन, अर्थनीति और राजनीति, राष्ट्रीयता, अन्तर्राष्ट्रीय आदि में उनके जो विचार देखने को उपलब्ध होते हैं वे उनकी वेदान्त दृष्टि के ही क्षेत्र विशेष के सम्बन्ध में प्रतिफल हैं। अत: स्वामी जी के शैक्षिक विचार भी उनकी वेदान्त विचारधारा से प्रेरित हैं। वेदान्त के विभिन्न मतवादों के होने पर भी उसका अन्तिम लक्ष्य आत्मा के स्वरूप का अभिज्ञान है और शिक्षा इस उद्देश्य की सिद्धि का साधन है। व्यक्ति समाज का मूलाधार है। व्यक्ति के सर्वांगीण उत्थान से समाज का सर्वांगीण उत्थान होता है और व्यक्ति के पतन से समाज का पतन होता है। स्वामी जी ने अपने शिक्षा दर्शन में व्यक्ति और समाज दोनों के समरस संतुलित विकास को ही शिक्षा का प्रमुख लक्ष्य माना है। उनकी शैक्षिक प्रयोजन विषयक कुछ अवधारणाएं व्यक्ति केन्द्रित हैं और कुछ समाज केन्द्रित। दोनों का लक्ष्य प्लेटो का न्याय संरचना की भाँति एक ही है।[१७]

व्यक्ति के माध्यम से समाज का विकास किया जा सकता है। एथेंस में नैतिकता का ह्रास होने से यह देश स्पार्टा के अधीन हो गया। यह सोच प्लेटो के मस्तिष्क में तब आया जब उसने देखा कि उसके गुरु सुकरात को जहर का प्याला थमाया गया। प्लेटो ने सोचा कि जब एक ऐसे निर्दोष व्यक्ति को अन्याय के कटघरे में लाकर खड़ा कर दिया गया। व्यक्ति केन्द्रित शैक्षिक शैक्षिक प्रयोजनों में सबसे पहले व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास है। भारत की चिन्तन धारा में व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास की अपनी एक विशिष्ट मान्यता है जो पुरुषार्थ के निर्माण धर्म, अर्थ, काम, और, मोक्ष के रूप में प्रकट हुई है।

स्वामी विवेकानन्द ने भारत में अंग्रेजों द्वारा चलाई हुई वर्तमान शिक्षा प्रणाली का जबर्दस्त खण्डन किया उनका कहना था कि यह शिक्षा हमें अपनी संस्कृति के अनुरूप नहीं बनाती। विश्वविद्यालय की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विषय में उन्होंने कहा था, यह ''बाबू'' पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नहीं है। अगर इतना ही होता तब भी ठीक था, पर नहीं- इस शिक्षा से किस प्रकार लोग श्रद्धा और विश्वास रहित होते जा रहे हैं। स्वामी जी कहते हैं कि गीता तो एक प्रक्षित्त अंश है और वेद देहाती गीत मात्र है।''[१८]

वर्तमान शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए उन्होंने उसकी तुलना एक ऐसे व्यक्ति से ही की है कि जिसे अपने गधे को घोड़ा बनाने के लिए खूब पीटने की सम्मति दी गयी थी और उस व्यक्ति ने अपने गधे को घोड़ा बनाने की इच्छा से इतना पीटा कि वह बेचारा मर ही गया। वे कहते हैं इस तरह लड़के को ठोक पीटकर शिक्षित बनाने की जो प्रणाली है, उसका अन्त कर देना चाहिए। माता-पिता के अनुचित दबाव के कारण हमारे बालकों को विकास का स्वतंत्र अवसर प्राप्त नहीं होता। प्रत्येक में ऐसी असंख्य प्रवृत्तियाँ रहा करती हैं, जिनके विकास के लिए समुचित क्षेत्र की आवश्यकता होती है। सुधार के लिए जबरदस्ती उद्योग करने का परिणाम सदैव उल्टा ही होता है। यदि तुम किसी को सिंह नहीं बनने दोगे, तो वह सियार ही बनेगा।''[१९]

पाश्चात्य ढंग की शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए विवेकानन्द यह स्पष्ट रूप से समझते थे कि उपयुक्त व्यवस्था का प्रबन्ध किये बिना देश का उत्थान नहीं हो सकता। शिक्षा के अभाव में भारतवासियों के अन्दर आत्मविश्वास, आत्मसंयम एवं आत्मसम्मान की भावना जागृत नहीं हो सकती। यूरोप और अमेरिका के नगरों में सामान्य व्यक्तियों के स्तर और शिक्षा को देखकर स्वामी जी के मन में बार-बार अपने देश वासियों की दीन-दशा के लिए दुःख उत्पन्न होता था। उन्होंने स्पष्ट रुप से समझ लिया कि इन दीन दशा का कारण उपयुक्त शिक्षा का अभाव है। उन्होंने लिखा है, ''शिक्षा से आत्म-विश्वास आता है और आत्मविश्वास से अन्तर्निहित भाव जाग उठता है। परन्तु हमारा ब्रह्मभाव क्रमशः निद्रित था संकुचित होता चला जा रहा है।''[२०]

स्वामी विवेकानन्द ने भारत की वर्तमान स्थिति की आयरलैण्ड से तुलना करते हुए दिखलाया है कि किस प्रकार उपयुक्त शिक्षा के अभाव में यहाँ के लोग निर्धन, दीन-हीन और सब प्रकार से उत्साहीन दिखलायी पड़ते थे। शिक्षा मिलने के बाद उनकी आँखे उठने लगीं और भय के चिन्ह समाप्त हो गये। इसके पहले वे अपने को दास समझते थे। अमरीका में पहुँचकर उन्होंने यह अनुभव किया कि वे भी मनुष्य है और वे सब कुछ कर सकते हैं। उनमें हिम्मत बंधी और उन्होंने सिर उठाकर रहना सीखा। भारत की भी समस्या इसी प्रकार की है। हमारी शिक्षा हमारे नव-युवकों को इन्सान नहीं बनाती, बल्कि उनमें से इन्सानियत के बहुत से गुणों को समाप्त कर देती है। इस प्रकार की शिक्षा देश के लिए सर्वथा अनपयुक्त है। वे कहते है, स्कूल के लड़के इससे सीखते तो कुछ नहीं, अपितु जो कुछ अपना है, उसका विनाश हो जाता है और इसका फल - श्रद्धा का अभाव। अतः अब उपाय क्या है? उपाय है- शिक्षा का प्रसार।''[२१]

इस प्रकार की शिक्षा से मनुष्य का नहीं बल्कि कुलियों और बाबुओं का निर्माण होता है। वह कभी हमें यह अनुभव नहीं करने देती कि हमारा भविष्य कितना उज्जवल है। उससे हमें यह भी ज्ञात नहीं होता कि हमारा भूत कैसा था और इस कारण पिछले पचास वर्षों की लगातार शिक्षा से भी देश में एक मौलिक व्यक्ति उत्पन्न नहीं हो सका। स्वामी जी ने स्पष्ट लिखा ''मौलिकता वाला प्रत्येक व्यक्ति जो कि उत्पन्न हुआ है, इस देश में नहीं बल्कि अन्य स्थान पर शिक्षा पाता रहा है अथवा वे अपने को एक बार फिर से स्वच्छ करने के लिए पुराने विश्वविद्यालयों में गये हैं।''[२२]

वास्तव में मनुष्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उन आध्यात्मिक और मानवीय मूल्यों का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त कर रहा है और अथिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा है जिससे वह इस संसार को सुन्दर बना सकें।

संदर्भ ग्रंथ सूची

[१]बी.एस. भार्गव -*''आधुनिक भारत का इतिहास'',* कालिज बुक डिपो जयपुर १९७० पृष्ठ संख्या ६९३।

[२]यही।

[3]*The Report of University Education Commission,* Vol (1948-49, Govt of India Press Shimla 1950 P.56)

[4]*Ibid.* P. 56

[5]*The report of Secondary Education Commission,* (Oct- 1952-June 1955) Ministry of Education Government of India, P. 22

[६]*शिक्षा आयोग की रिपोर्ट १९६४-६६ ''शिक्षा और राष्ट्रीय विकास'',* शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार, १९६८ पृष्ठ संख्या १९

[७]*रिपोर्ट आफ एजूकेशन कमीशन;* १९६४-६६, पृष्ठ संख्या ४९७-९८

[८]*स्वामी विवेकानन्द, व्यक्ति और विचार,* पृष्ठ संख्या ७७ प्रकाशन – राधा पब्लिकेशन ४३७८/४ बी अंसारी रोड दरियागंज, नयी दिल्ली।

[९]

[१०]स्वामी विवेकानन्द -*''व्यक्ति और विचार''*, पृष्ठ संख्या ७९; प्रकाशन - राधा पब्लिकेशन ४३७८/४ बी अंसारी रोड दरियागंज, नयी दिल्ली।

[११]स्वामी विवेकानन्द -*''व्यक्ति और विचार''*, पृष्ठ संख्या ८०; प्रकाशन - राधा पब्लिकेशन ४३७८/४ बी अंसारी रोड दरियागंज, नयी दिल्ली- ११०-००२।

[12]S.C. MALHOTRA; *Social and Political originatation of New Vendantism*, S. Chand co. New Delhi, 1970 P. 1.

[१३]*लेखक (राजेन्द्र प्रसाद गुप्त) ने स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा दर्शन के बारे में देश के प्रमुख शिक्षा शास्त्रियों से बातचीत एवं पत्र व्यवहार किया है।* श्री टी०यस० अविनाशलिंगम ने लेखक को लिखे गये एक पत्र दिनांक २६.०६.१९८२ में स्वीकार किया

''स्वामी विवेकानन्द ने किसी विस्तृत पाठ्यक्रम आदि की रचना नहीं की है। उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ व्यापक एवं बुनियादी विचार दिये हैं।

[14]*The Complete Works of Swami Vivikananda.* Vol. V, P-144.

[१५]स्वामी विवेकानन्द -*''व्यक्ति और विचार''*, पृष्ठ संख्या ८१; प्रकाशन - राधा पब्लिकेशन अंसारी रोड दरियागंज, नयी दिल्ली।

[१६]डॉ० भरत कुमार तिवारी -*विवेकानन्द का दार्शनिक चिन्तन''*, पृष्ठ संख्या १६२ प्रकाशन भारतीय भाषापीठ ३/५९६ महरौली नयी दिल्ली।

[१७]*''स्वामी विवेकानन्द, व्यक्ति और विचार''* -राजेन्द्र प्रसाद गुप्त, पृष्ठ संख्या ८३ प्रकाशक- राधा पब्लिकेशन्स असारी रोड दरियागंज नई दिल्ली ११०००२.

[१८]*स्वामी विवेकानन्द,* अष्टम खण्ड पृ० २२९-२२८.

[१९]स्वामी विवेकानन्द -*''शिक्षा, संस्कृति और समाज''*, पृष्ठ संख्या २१.

[२०]स्वामी विवेकानन्द -*''शिक्षा, संस्कृति और समाज''*, पृष्ठ संख्या ७.

[२१]स्वामी विवेकानन्द -*''शिक्षा, संस्कृति और समाज''*, पृष्ठ संख्या ८

[२२]विवेकानन्द -*कलेक्टेड वर्क्स बोल* पाँचवा, पृष्ठ संख्या ३२४.

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777
भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,50-53**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 08 जनवरी 2018

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षण विधि का तुलनात्मक अध्ययन

सुनील कुमार चतुर्वेदी*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षण विधि का तुलनात्मक अध्ययन* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र का लेखक मैं *सुनील कुमार चतुर्वेदी* घोषणा करता हूँ कि लेखक के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेता हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देता हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैंने शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देता हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देता हूँ।

शिक्षण विधियों के सम्बन्ध में जॉन डीवी के विचारपूर्ण रूपेण प्रयोगवादी हैं। जिसके कारण उन्होंने अपनी शिक्षा व्यवस्था में अनुभव, प्रयोग एवं निरीक्षण को स्वाभाविक रूप में स्थान दिया है। डीवी शिक्षाण की परम्परागत विधियों का विरोध करते हैं। उनके अनुसार बालकों को रटा-रटाकर शिक्षा प्रदान पूर्णतया अव्यावहारिक है, 'अनुपयोगी' एवं 'अमनोवैज्ञानिक' है। डीवी ने शिक्षण विधि के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है, ''विधि का अर्थ पाठ्यक्रम की उस अवस्था से है जो उसको सर्वाधिक उपयोग के लिये व्यवस्थित करती है। विधि पाठ्य-पुस्तक के विरूद्ध नहीं होती, वरन् यह तो वांछित परिणामों की ओर पाठ्यवस्तु का प्रभावशाली निर्देशन है।

डीवी ने बालकों के लिए ऐसी शिक्षण विधियों को अपनाने की बात की है जिसमें बालक निष्क्रिय न रहकर स्वानुभव द्वारा स्वयं सीखे तथा प्रयोग करें, सक्रिय एवं जिज्ञासु बना रहे। डीवी ने पुस्तकीय ज्ञान अथवा सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा क्रिया द्वारा सिखाने पर जोर दिया जिससे बालक स्थायी ज्ञान प्राप्त कर सके। उससे उनमें सहयोग, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता आदि भाव उत्पन्न होते हैं तथा मौलिकता एवं सृजनशीलता जैसे गुणों का उत्तरोत्तर विकास होता है। इस प्रकार डीवी की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था क्रिया मूलक, रूचि तथा अनुभव पर आधारित है। डीवी ने किलपैट्रिक द्वारा प्रतिपादित शिक्षण की योजना विधि का प्रबल समर्थन किया जिसके निम्न पांच चरण होते हैं- 1. Acivity, 2. Problem, 3. Information of Data, 4. Hypothesis, 5. Testing and Experience[1]

डीवी का विचार है कि शिक्षण प्रदान करते समय बालक के समक्ष ऐसी परिस्थितियों उत्पन्न की जायें जिनमें रहते हुए वह भौतिक एवं सामाजिक वातावरण की अनेकों समस्याओं को सुलझा सकें। इस विधि में बालक को जीवन में काम में आने वाली समस्याओं को सरलतापूर्वक सुलझाने का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

* शोध छात्र, शिक्षा संकाय, जयपुर नेशनल यूनिवर्सिटी, जयपुर (राजस्थान) भारत

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

डीवी महोदय उस शिक्षण विधि को उत्तम मानते हैं जिसमें निम्नांकित विशेताएं हों- १. सृजनात्मक शक्ति, २. निरीक्षण शक्ति, ३. कल्पना शक्ति, ४. वास्तविकता के आधार पर यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति, ५. शारीरिक शक्ति को विकसित करने की क्षमता, ६. सामाजिक कुशलता में अभिवृद्धि करने की क्षमता।[२]

वर्तमान समय में बालक के समक्ष शिक्षा से सम्बन्धित अनेकों समस्यायें हैं। बालक की इन समस्याओं का समाधान इस शिक्षा प्रणाली से होना संभव नहीं है क्योंकि वर्तमान शिक्षा प्रणाली मात्र पुस्तकों पर आधारित हैं एवं अमनोवैज्ञानिक है।

डीवी का विचार है कि ऐसे समय में शिक्षक का परम दायित्व बनता है कि बालक की समस्याओं को समझं एवं उनकी समझ उनकी योग्यताओं, इच्छाओं, क्षमताओं से सम्बन्धित ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाये जिससे बालक स्वयं उन समस्याओं के बारे में विचार करने को तत्पर हो जायें एवं उसका सटीक एवं उपयुक्त समाधान निकाल सके। उसे भाषण द्वारा अपने बालक के मन में भरना नहीं है बल्कि उसे ऐसे कार्य करने को देना है जिससे उसकी विभिन्न शक्तियों का स्वाभाविक विकास हो सके।[३]

डीवी ने शिक्षण विधि की सह-सम्बन्ध विधि को मौलिकता प्रदान की है अर्थात् सह-सम्बन्ध विधि डीवी की मौलिक देन है। अपनी पुस्तक ''How we think'' में डीवी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि प्रयोग के बिना समन्वय शिक्षा की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। अत: स्पष्ट होता है कि डीवी प्रयोग विधि को महत्वपूर्ण मानते थे। डीवी ने अपने प्रयोगात्मक विद्यालय में जो शिक्षण विधि लागू की वह प्रयोगवादी शिक्षण विधि कही जाती है। इस प्रकार जॉन डीवी ने शिक्षण प्रदान करने हेतु निम्नलिखित शिक्षण विधियों को प्रयुक्त किया- १. क्रियानुभव-शिक्षण विधि, २. रूचि-परक शिक्षण विधि, ३. किलपैटिक योजना विधि, ४. सह सम्बन्ध-शिक्षण विधि, ५. प्रयोगवादी-शिक्षण विधि, ६. आगमन, निगमन विधि, ७. निरीक्षण विधि, ८. अभ्यास विधि, ९. अन्वेषण विधि, १०. खेल विधि, ११. समस्या-निराकरण विधि

डीवी का विचार है कि शिक्षण करते समय सहायक सामग्री का भी प्रयोग करना चाहिये। इससे बालक को प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है जो प्रभावी और स्थायी होता है। डीवी के अनुसार उपरोक्त शिक्षण का आधार क्रिया एवं अनुभव का ही होता है न कि पुस्तकीय ज्ञान का। डीवी का विचार था कि ''एक विद्यार्थी पुस्तकें पढ़कर अथवा व्याख्यानों को सुनकर नहीं सीखता है बल्कि उपने को जलाकर अपनी भूख मिटाकर सीखता है। वह इतना तपकर कुन्दन का रूप धारण कर कार्यों का करके सीखता है। हाथ, कान, आँख यह शरीर सूचना के स्त्रोत बन जाते हैं तथा शिक्षक और पाठ्य पुस्तकें केवल आरम्भ करने वाले और परीक्षा करने वाले हो जाते हैं।''[४]

डीवी की शिक्षण विधियों का अध्ययन करने पर निम्नलिखित बातें प्रकाश में आई :

१. ऐसा कार्य किया जाय जिसमें समस्या का समाधान करना पड़े।
२. जिसमें बुद्धि, विचार-शक्ति और तकशक्ति का प्रयोग करना पड़े।
३. कार्य के विभिन्न क्रमों, गतियों, विधियों और परिणामों का सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त होना सुनिश्चित हो।
४. कार्य की आवृत्ति सुविधानुसार हो।
५. कार्य वास्तविक स्थिति का हो अर्थात् जो कार्य दिया जाये वह केवल विद्यालय के लिये अभ्यास मात्र न हो बल्कि ऐसी स्थिति का कार्य कराया जाये जिसका कोई प्रयोजन हो और बालक निश्चित रूप से समझता हो कि हम कोई वास्तविक कार्य कर रहे हैं।

स्वामी विवेकानन्द की भी तत्कालीन शिक्षण विधि में आस्था नहीं थी। उनके अनुसार शिक्षण रचनात्मक एवं सकारात्मक होना चाहिये और छात्रों की आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन किया जान चाहिये। प्रत्येक विषय को पढ़ाने के लिए अलग-अलग विधियों तथा प्राविधियों का चयन बालक की व्यक्तिगत भिन्नताओं को ध्यान में रखकर किया जान चाहिये।[५]

जिस प्रकार स्वामी जी के शैक्षिक उद्देश्य एवं पाठ्यक्रम में अलौकिकता का समन्वय दर्शित होता है उसी भांति शिक्षण विधियों के चयन में भी स्वामी जी ने आदर्श शिक्षण विधियों को अधिक प्रयुक्त किया है। स्वामी

जी ने ज्ञान ग्रहण करने हेतु ध्यान केन्द्रीकरण को सर्वोत्तम तथा आदर्श विधि मानते हुए कहा है ध्यान केन्द्रीकरण की शक्ति जितनी ही अधिक होगी, धनी होगी, किसी बात को उतनी ही अधिक शक्ति से ग्रहण किया जा सकेगा। स्वामी जी के विचार से जब तक हम अपने मन मस्तिष्क को किसी विषय पर केन्द्रित नहीं करते तब तक हम उस विषय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। मन की एकाग्रता ही ज्ञान ग्रहण करने का मूल आधार है जिसके द्वारा ही शिक्षा के सार्थक उद्देश्यों को स्पष्ट किया जा सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने किसी भी प्रकार का भौतिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए योग विधि को सर्वोत्तम मान है। जिसके लिए उन्होंने योग के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है- १. ज्ञानयोग, २. भक्तियोग, ३. राजयोग, ४. कर्मयोग।

गीता के अनुसार योग, चित्त वृत्तियों का निरोध है अर्थात् योग से आशय है मन की दुष्प्रवृत्तियों को समाप्त करना उसी प्रकार स्वामी जी ने स्वीकार किया कि योग के समस्त मार्ग उसी परम सत्ता की तरफ ले जाने वाले हैं। योगी व्यक्ति ही अपनी आन्तरिक कमियों को जानकर त्याग कर सकता है और त्यागी व्यक्ति ही अच्छा शिक्षक हो सकता है।

''वासनाओं को वश में कर लेने से उत्कृष्ट फल प्राप्त होते हैं। काम शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति में परिणित कर लो। यह शक्ति जितनी ही प्रबल होगी उससे उतना ही अधिक कार्य हो सकेगा।''[६]

स्वामी जी का मानना है कि शिष्य गुरू को आदर्श मानकर ही अपने व्यक्तित्व को निर्मित करता है। श्रेष्ठ मुनियों, ऋषियों, त्यागियों एवं सन्यासियों के सत्संग से, भजन, कीर्तन से गुरू तथा महापुरूषों के अमृतमयी विचार, उपदेश तथा व्याख्यान आदि को सुनकर उन पर चिन्तन मनन कर ज्ञान प्राप्त करता है।

स्वामी जी के अनुसार बालक में सभी प्रकार की ज्ञान पहले से ही विद्यमान हैं तथा इस निहित ज्ञान के अनावरण पर ही वह शिक्षित कहलाता है। बालक स्वयं शिक्षित होता है। शिक्षक का कार्य उसे ज्ञान प्रदान करना नहीं अपितु निहित ज्ञान के अनावरण हेतु मार्गदर्शन प्रदान करना है एवं परामर्श द्वारा शिक्षार्थी की कठिनाइयों का समाधान करके उसके लिये उचित शिक्षा की व्यवस्था करना है। उन समस्त अवरोधों को दूर करना है जो ज्ञान के अनावरण में बाधक हैं।[७]

स्वामी जी के अनुसार व्यक्ति को आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का ज्ञान आवश्यक है जिसके लिये उन्होंने भिन्न-भिन्न विधियों का प्रतिपादन किया- १. अनुकरण विधि, २. व्याख्यान विधि, ३. योग विधि, ४. निर्देशन एवं परामर्श विधि, ५. केन्द्रीकरण विधि, ६. उपदेश विधि, ७. विश्लेषण विधि, ८. तर्क एवं वार्तालाप विधि, ९. क्रियात्मक एवं व्यावहारिक विधि, १०. भ्रमण विधि, ११. निरीक्षण विधि, १२. स्वाध्याय विधि, १३. साक्षात्कार एवं पत्राचार विधि, १४. प्रदर्शन एवं प्रयोग विधि।

स्वामी जी ने भौतिक तत्वों के ज्ञान प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष अनुकरण, निर्देशन, विचार-विमर्श तथा प्रयोग विधियों का प्रतिपादन किया वहीं आध्यात्मिक तत्वों की ज्ञान प्राप्ति हेतु स्वाध्याय, मनन, ध्यान तथा योग विधियों को महत्वपूर्ण माना है। छात्रों को सिखाने हेतु दृश्य श्रव्य सामग्री के प्रयोग पर उन्होंने बल दिया।

जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित शिक्षण विधियों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि डीवी तथा स्वामी विवेकानन्द दोनों ही शिक्षाविद् पुस्तकीय ज्ञान की अपेक्षा क्रियात्मक शिक्षण विधि का समर्थन करते हुए बालक में सृजनात्मक चिन्तन, मनन, कौशल और विचार शक्ति का विकास करना चाहते हैं। दोनों ही विचारक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए बालक को उसकी स्वाभाविक प्रकृति इच्छा, आकांक्षा, आवश्यकता तथा विशिष्टता के अनुरूप स्वानुभव द्वारा ज्ञान ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। दोनों ही विचारक दृश्य श्रव्य सामग्री के महत्व को स्वीकृत करते हैं।[८]

डीवी ने एक ओर जहां किलपैट्रिक के पंच सोपानों से शिक्षण कार्य कराये जाने पर जोर दिया है, वहीं स्वामी जी ने आदर्श विधियों द्वारा श्रवण मनन, निदिध्यासन केंद्रीकरण विधियों से शिक्षण करने पर बल दिया है। दोनों विचारकों के विचार में कहीं-कहीं असमानता दिखाईपड़ती है। दोनों ही मनीषी प्रयोग पर आधारित

शिक्षण विधि का समर्थन करते हैं तथापि उसके क्रमागत चरणों में भिन्नत दिखाई पड़ती है।[९]

संदर्भ ग्रंथ

[१]''जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका इक्कीसवीं-सदी की शिक्षा पर प्रभाव'' -(लेखक) श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, (शोध प्रबन्ध), पृष्ठ संख्या २८

[२]वही, पृष्ठ संख्या २९

[३]वही, पृष्ठ संख्या ३०

[४]पाल, डॉ०एस०के० -शिक्षा-दर्शन, कैलाशन प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९६ पृष्ठ संख्या १३८

[५]''जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका इक्कीसवीं-सदी की शिक्षा पर प्रभाव'' -(लेखक) श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, (शोध प्रबन्ध), पृष्ठ संख्या ३२

[६]स्वामी विवेकानन्द -शिक्षा, प्रकाशक स्वामी ब्रह्मस्थानन्द, रामकृष्ण मठ धन्तोली, नागपुर, १९९६, पृष्ठ संख्या १२

[७]''जॉन डीवी एवं स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन तथा उसका इक्कीसवीं-सदी की शिक्षा पर प्रभाव'' लेखक- श्रीमती शुभ्रा श्रीवास्तव, (शोध प्रबन्ध) पृष्ठ संख्या ३४

[८]वही, पृष्ठ संख्या ३५

[९]वही, पृष्ठ संख्या ३६

पत्रावली संख्या V-34564,पंजीकरण संख्या 533/2007-2008
आन्वीक्षिकी ISSN 0973-9777

भारतीय शोध समग्र पत्रिका (2017-18) **11एवं12,54-55**
प्रकाशनार्थ स्वीकृत 09 जनवरी 2009

साहित्य शास्त्र में चम्पू काव्य विधा

भारती मेहता*

लेखक का घोषणा-पत्र

भारतीय शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशनार्थ प्रेषित *साहित्य शास्त्र में चम्पू काव्य विधा* शीर्षक लेख/ शोध प्रपत्र की लेखिका मैं *भारती मेहता* घोषणा करती हूँ कि लेखिका के रूप में इस लेख की सभी सामग्रियों की जिम्मेदारी लेती हूँ, क्योंकि मैंने स्वयं इसे लिखा है और अच्छी तरह से पढ़ा है और साथ ही अपने लेख/ शोध प्रपत्र को शोध पत्रिका आन्वीक्षिकी में प्रकाशित होने की स्वीकृति देती हूँ। यह लेख/ शोध प्रपत्र मूल रूप में या इसका कोई अंश कहीं और नहीं छपा है और न ही कहीं मैंने इस छपने के लिये भेजा है। यह मेरी मौलिक कृति है। मैं शोध प्रपत्र आन्वीक्षिकी के सम्पादक मण्डल को अपने लेख के संशोधन एवं सम्पादन की पूर्ण अनुमति देती हूँ। आन्वीक्षिकी में लेख प्रकाशित होने पर इसके कापीराइट का अधिकार सम्पादक को देती हूँ।

चम्पू श्रव्य काव्य का एक भेद है, अर्थात् गद्य–पद्य के मिश्रित् काव्य को चम्पू कहते हैं। गद्य तथा पद्य मिश्रित काव्य को ''चंपू'' कहते हैं –''गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते''। –(साहित्य दर्पण, ६/३३६)

काव्य की इस विधा का उल्लेख साहित्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों– भामह, दण्डी, वामन आदि ने नहीं किया है। यों गद्य पद्यमय शैली का प्रयोग वैदिक साहित्य, बौद्ध जातक, जातकमाला आदि अति प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। चम्पूकाव्य परंपरा का प्रारम्भ हमें अथर्व वेद से प्राप्त होता है। चम्पू नाम के प्रकृत काव्य की रचना दसवीं शती के पहले नहीं हुई। त्रिविक्रम भट्ट द्वारा रचित 'नलचम्पू', जो दसवीं सदी के प्रारम्भ की रचना है, चम्पू का प्रसिद्ध उदाहरण है। इसके अतिरिक्त सोमदेव सुरि द्वारा रचित यश:तिलक, भोजराज कृत चम्पू रामायण, कवि कर्णपूरि कृत आनन्दवृन्दावन, गोपाल चम्पू (जीव गोस्वामी), नीलकण्ठ चम्पू (नीलकण्ठ दीक्षित) और चम्पू भारत (अनन्त कवि) दसवीं से सत्रहवीं शती तक के उदाहरण हैं। यह काव्य रूप अधिक लोकप्रिय न हो सका और न ही काव्यशास्त्र में उसकी विशेष मान्यता हुई। हिन्दी में यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त) को चम्पू–काव्य कहा जाता है, क्योंकि उसमें गद्य–पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है।

गद्य और पद्य के इस मिश्रण का उचित विभाजन यह प्रतीत होता है कि भावात्मक विषयों का वर्णन पद्य के द्वारा तथा वर्णनात्मक विषयों का विवरण गद्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाय। परन्तु चंपू रचयिताओं ने इस मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य पर विशेष ध्यान न देकर दोनों के संमिश्रण में अपनी स्वतंत्र इच्छा तथा वैयक्तिक अभिरुचि को ही महत्व दिया है।

गद्य–पद्य का संमिश्रण संस्कृत साहित्य में प्राचीन है, परंतु काव्यशैली में निबद्ध, 'चंपू' की संज्ञा का अधिकारी गद्य–पद्य का समंजस मिश्रण उतना प्राचीन नहीं माना जा सकता। गद्य–पद्य की मिश्रित रचना कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में उपलब्ध होती है। पालि जातकों में भी गद्य में कथानक तथा पद्य (गाथा) में मूल सूत्रात्मक संकेतों की उपलब्धि अवश्य होती है। परंतु काव्य–तत्व से विरहित होने के कारण इन्हें हम 'चंपू' का दृष्टांत किसी प्रकार नहीं मान सकते। हरिषेण रचित समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति (समय ३५० ई.) तथा बौद्ध कवि आयंशूर (चतुर्थ शती) प्रणीत जातकमाला चंपू के आदिम रूप माने जा सकते हैं, क्योंकि पहले

* शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना (बिहार) भारत। (पुनः प्रकाशन)

© लेखक २०१७-१८, एम०पी०ए०एस०वी०ओ० मुद्रण एवं आन्वीक्षिकी सदस्य सहसंयोजन से प्रकाशित, सर्वाधिकार सुरक्षित मनीषा प्रकाशन। आज्ञा हेतु कृपया सम्पर्क करें : E-mail : maneeshashukla76@rediffmail.com & ijraeditor@yahoo.in, इस प्रपत्र को www.anvikshikijournal.com पर पढ़ें

में समुद्रगुप्त की दिग्विजय तथा दूसरे में ३४ जातक विशुद्ध काव्यशैली का आश्रय लेकर अलंकृत गद्य पद्य में वर्णित हैं। प्रतीत होता है कि चंपू गद्यकाव्य का ही एक परिबृंहित रूप है और इसीलिये गद्यकाव्य के सुवर्णयुग (सप्तम अष्टम शती) के अनंतर नवम शती के आस–पास इस काव्यरूप का उदय हुआ।

चंपू काव्य का प्रथम निदर्शन त्रिविक्रम भट्ट का नलचंपू है जिसमें चंपू का वैशिष्ट्य स्फुटतया उद्भासित होता है। दक्षिण के राष्ट्रकूटवंशी राजा कृष्ण (द्वितीय) के पौत्र, राजा जगतुग और लक्ष्मी के पुत्र, इंद्रराज (तृतीय) के आश्रय में रहकर त्रिविक्रम ने इस रुचिर चंपू की रचना की थी। इंद्रराज का राज्याभिषेक वि०सं० ९७२ (९१५ ई.) में हुआ था और उनके आश्रित होने से कवि का भी वही समय है दशम शती का पूर्वार्ध। इस चंपू के सात उच्छ्वासों में नल तथा दमयंती की विख्यात प्रणय कथा का बड़ा ही चमत्कारी वर्णन किया गया है। काव्य में सर्वत्र शुभग संभग श्लेष का प्रसाद लक्षित होता है।

जैन कवि सोमप्रभसूरि का 'यशस्तिलक चंपू' दशम शती के मध्यकाल की कृति है (रचनाकाल ९५९ ई.)। ग्रंथकार राष्ट्रकूटनरेश कृष्ण के सामंत चालुक्य अरिकेश्री (तृतीय) के पुत्र का सभाकवि था। इस चंपू में जैन पुराणों में प्रख्यात राजा यशोधर का चरित्र विस्तार के साथ वर्णित है। चंपू के अंतिम तीन उच्छ्वासों में जैनधर्म के सिद्धातों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर कवि ने इन सिद्धांतों का पर्याप्त प्रचार प्रस्तार किया है। ग्रंथ में उस युग के नानाविध धार्मिक, आर्थिक तथा सामाजिक विषयों का विवरण सोमप्रभवसूरि की व्यापक तथा बहुमुखी वंदुषी का परिचायक है।

राम तथा कृष्ण के चरित का अवलंबन कर अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने अपनी प्रतिभा का रुचिर प्रदर्शन किया है। ऐसे चंपू काव्यों में भोजराज (११वीं शती) का रामायण चंपू, अनंतभट्ट का 'भारत चंपू', शेष श्रीकृष्ण (१६वीं शती) का 'पारिजातहरण चंपू' काफी प्रसिद्ध हैं। भोजराज ने रामायण चंपू की रचना किष्किंधा कांड तक ही की थी, जिसकी पूर्ति लक्ष्मण भट्ट ने 'युद्धकांड' की तथा वेंकटराज ने 'उत्तर कांड' की रचना कर की थी।

जैन कवियों के समान चैतन्य मतावलंबी वैष्णव कवियों न अपने सिद्धांतों के पसर के लिये इस ललित काव्यमाध्यम को बड़ी सफलता से अपनाया। भगवान श्रीकृष्ण की ललाम लीलाओं का प्रसंग ऐसा ही सुंदर अवसर है जब इन कवियों ने अपनी अलोकसामान्य प्रतिभा का प्रसाद अपने चंपू काव्यों के द्वारा भक्त पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। कवि कर्णपूर (१६वीं शती) का आनंदवृंदावन चंपू, तथा जीव गोस्वामी (१७वीं शती) का गोपालचंपू सरस काव्य की दृष्टि से नितांत सफल काव्य हैं। इनमें से प्रथम काव्य कृष्ण की बाललीलाओं का विस्तृत तथा विषद् वर्णन करता है, द्वितीय काव्य कृष्ण के समग्र चरित का मार्मिक विवरण है।

वीरमित्रोदय के प्रख्यात रचयिता मित्र मिश्र (१७वीं शती का प्रथमार्ध) का आनंदकंद चंपू कृष्णपरक चंपुओं में एक रुचिर श्रृंखला जोड़ता है। दक्षिण भारत में भी चंपूकाव्यों की लोकप्रियता कम न थी। नीलकंठ दीक्षित का 'नीलकंठविजय चंपू' समुद्र–मंथन के विषय में है (रचनाकाल १६३१ ई.)। श्री वैष्णव वेंकटाध्वरी (१७वीं शती) के 'विश्वगुणादर्श चंपू' की रचना अन्य चंपुओं से इस बात में विशिष्ट है कि इसमें भारत के नाना तीर्थो, धर्मो तथा शास्त्रज्ञों में दोषों तथा गुणों का उद्घाटन बड़ी मार्मिकता से एक साथ किया गया है। यह विशेष लोकप्रिय काव्य है। वाणीश्वर विद्यालंकार का 'चित्रचंपू' बंगाल के एक विशिष्ट पंडित कवि की रचना है जिसमें भक्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति का संकेत रूपकशैली में एक सरस आख्यान के माध्य से किया गया है (१८वीं शती)।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में भावों के प्रकटन के निमित्त अनेक शताब्दियों तक लोकप्रिय माध्यम होने पर भी उत्तर भारतीय भाषासाहित्य में चंपू काव्य दृढमूल न हो सका। द्राविड़ी भाषा के साहित्य में सामन्यतरू, केरली तथा आंध्र साहित्य में विशेषत:, चंपू काव्य आज भी लोकप्रिय है जिसके प्रण्यन की ओर कविजनों का ध्यान पूर्णत: आकृष्ट है।

लेखकों के लिए निर्देश

शोधपत्र का अनुरोध

लेखक अपना शोधपत्र डॉ. मनीषा शुक्ला ,प्रधान सम्पादिका आन्वीक्षिकी भारतीय शोध पत्रिका को ई-मेल पर प्रेषित करें। (maneeshashukla76@rediffmail.com)

प्राप्त शोधपत्र पत्रिका में प्रकाशन के पूर्व पुनर्निरीक्षित किये जायेंगे। स्वीकृत शोधपत्र कहीं और प्रकाशित नहीं होना चाहिए और न ही उस शोधपत्र का कोई भी भाग प्रधान सम्पादिका के अनुमति के बिना कहीं और प्रकाशित किया जा सकता है। कृपया अपने शोधपत्र की पाण्डुलिपि निम्न भागों में तैयार करें,शीर्षक ;सारांश ;पाण्डुलिपि ;पुस्तक संदर्भ सूची। कृपया पुनर्निरीक्षण की गुणवत्ता में सहायता करने हेतु अपना नाम पता पाण्डुलिपि पर न दें।

शीर्षक :शीर्षक पाण्डुलिपि पर अवश्य दें,किन्तु अपना पूरा नाम,पता,संस्था जहाँ पर अध्ययन अथवा अध्यापन कार्य सम्पादित किया गया हो, आपका विषय,दूरभाष अथवा मोबाइल,फैक्स,ई-मेल पत्राचार हेतु अलग पृष्ठ पर अवश्य दें। उपर्युक्त तथ्य आपके शोधपत्र के शब्द सीमा के अन्तर्गत ही माना जायेगा।

सारांश :कृपया शोधपत्र का सारांश 120 शब्दों में दें।

पाण्डुलिपि :इसके अन्तर्गत मुख्य पाठ्य सामग्री होगी ; जो 5 से 10 पृष्ठ तक होनी चाहिये। शोधपत्र 10 पृष्ठ से (सारांश,शब्द संक्षेप,संदर्भ सूची समेत)अधिक प्रकाशन हेतु स्वीकार नहीं किया जायेगा। अन्यथा वृहद् शोधपत्र(10 पृष्ठ से अधिक) प्रकाशन में देर भी हो सकती है। लेखक को यह बात स्वीकार होनी चाहिए कि शोधपत्र पुनर्निरीक्षण के दौरान किये गये संशोधन उन्हें मान्य होंगे। शोधपत्र प्रकाशन के दौरान त्रुटि की सम्भावना न बने इसका पूरा ध्यान रखा जाता है फिर भी कोई त्रुटि पाये जाने पर लेखक संशोधित रीप्रिंट प्राप्त कर सकता है ; पत्रिका में संशोधन की व्यवस्था नहीं है।

सन्दर्भ वर्णमालाक्रामानुसार :शोधपत्र के समापन पर कृपया संदर्भ वर्णमाला क्रमानुसार दें। पत्रिका का वर्ष,लेखक, पृष्ठ संख्या,भाग इत्यादि विस्तार से दें। पुस्तक शीर्षक या पत्रिका शीर्षक इटालिक दें।

पुस्तक :प्रकाशक का नाम,संस्करण संख्या,प्रकाशन वर्ष,लेखक का नाम,पुस्तक का नाम,पृष्ठ संख्या

पत्रिका :पत्रिका का नाम,लेख का शीर्षक,लेखक का नाम,प्रकाशक का नाम,अंक संख्या/माह,वार्षिक अथवा अर्द्धवार्षिक अथवा मासिक जो भी हो स्पष्ट करें।

समाचार पत्र :प्रकाशक,तिथि,सन् ,पृष्ठ संख्या,

इण्टरनेट :वेबसाइड,पृष्ठ संख्या,मुख्य शीर्षक,अन्त: शीर्षक।

मानचित्र एवं सारणी :मानचित्र एवं सारणी अथवा चित्र शोधपत्र की समाप्ति के अन्त में दें। यह ब्लैक एण्ड व्हाइट ही होना चाहिए। इसका स्पष्ट संकेत पाण्डुलिपि में दें(उदाहरण सारणी संख्या 1)

विशेष :कृपया अपना शोधपत्र ई-मेल करने के बाद डॉक से अवश्य भेजें। अपने शोधपत्र के साथ-साथ अपना वायोडाटा, फोटो,स्वपता लिखा लिफाफा(25 रू के टिकट सहित)भेजें। शोधपत्र यदि हिन्दी भाषा में है तो ए.पी.एस प्रियंका रोमन(ए.पी.एस. कार्पोरेट 2000++)में तैयार सी.डी के साथ दें। शोधपत्र प्राप्त होने के एक सप्ताह के अन्दर लेखक को स्वीकृति पत्र प्रेषित कर दिया जायेगा। ई-मेल से प्राप्त शोधपत्र हेतु ई-मेल से स्वीकृति भेजी जायेगी। शोधपत्र प्रेषित करने के पूर्व प्रधान सम्पादिका से दूरभाष पर अवश्य सम्पर्क करें। सम्पादक मण्डल अथवा सलाहकार समिति में सम्मिलित करने का अंतिम निर्णय संस्था का होगा।

सदस्यों से निवेदन है कि वर्ष में 20 सदस्य पत्रिका से जोड़कर संस्था का सहयोग करें।

प्रकाशन

अन्य एम.पी.ए.एस.वी.ओ. पत्रिकाएँ

सार्क अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका

www.anvikshikijournal.com

अन्य सहसंयोजन

एशियन जर्नल ऑफ माडर्न एण्ड आयुर्वेदिक मेडिकल साइंस

अर्द्धवार्षिक पत्रिका

www.ajmams.com

www.anvikshikijournal.com

ISSN 0973-9777

09739777

₹ 1300/-